गांधीजी
और
स्वाधीनता आंदोलन

जवाहरलाल नेहरू

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

गांधीजी

और

स्वाधीनता-आंदोलन

•

जवाहरलाल नेहरू

•

१९७३

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक : मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली •
पहली बार १९७३ • मूल्य : तीन रुपये • मुद्रक : नव साहित्य प्रिंटर्स, दिल्ली

प्रकाशकीय

पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत के स्वाधीनता-संग्राम के प्रमुख कर्णधारों में से थे। गांधीजी उनके प्रति गहरा स्नेह रखते थे और राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें अपना उत्तराधिकारी मानते थे। दूसरी ओर, जवाहरलालजी कुछ बातों में भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए भी उन्हें बड़े ही आदर-भाव से देखते थे।

जवाहरलालजी ने गांधीजी के बारे में बहुत कुछ लिखा है। 'मण्डल' से प्रकाशित उनकी पुस्तक 'राष्ट्रपिता' और श्री तो० कृ० महादेवन् द्वारा सम्पादित एवं गांधी स्मारक निधि से प्रकाशित 'बापू मेरी नजर में' इस विषय की बड़ी उपयोगी कृतियां हैं। इन्हीं पुस्तकों में से चुनी हुई सामग्री लेकर प्रस्तुत छात्रोपयोगी संकलन तैयार किया गया है। निधि की इच्छा थी कि इसमें स्वतंत्रता-संग्राम में अदा की गई गांधीजी की सम्पूर्ण भूमिका आजाती, लेकिन वह संभव नहीं हो सका। अतः रिक्त स्थानों की पूर्त्ति तथा घटनाओं के तारतम्य से पाठकों को अवगत कराने के लिए उसने इसमें डा० विश्वनाथ टण्डन की भूमिका जुड़वाई।

पुस्तक बड़ी उपयोगी है। नई पीढ़ी को विशेष रूप से इसे पढ़ना चाहिए, क्योंकि इसके पढ़ने से मालूम होता है कि गांधीजी की दृष्टि क्या थी और वह स्वतंत्र भारत से क्या अपेक्षा रखते थे।

हम गांधी स्मारक निधि के आभारी हैं कि उसने इस कार्य में 'मंडल' को भी अपना सहयोगी बनाया।

—मंत्री

विषय-सूची

भूमिका

गांधीजी और राष्ट्रीय आंदोलन

एक सिंहावलोकन

१८५७ के विद्रोह ने जहाँ एक ओर अंग्रेजी साम्राज्य को भारत में सुदृढ़ किया था, वहाँ दूसरी ओर सामंती शक्तियों को झकझोर कर शिक्षित समुदाय को समाज में अग्रसर होने का अवसर प्रदान किया था। पिछली शती के उत्तरार्ध में अंग्रेजी राज्य ने देश में दो प्रकार से राष्ट्रीय भावनाओं को पनपाया था। प्रथम, देश को राजनीतिक एकता प्रदान कर, एक शासन-सूत्र में बाँधकर, आवागमन के साधनों का आधुनिकीकरण कर, अंग्रेजी के प्रचार द्वारा विभिन्न प्रांतों के विचारशील पुरुषों में निकटता उत्पन्न कर और शिक्षित वर्ग को पश्चिमी जगत् के इतिहास तथा विचारों से परिचित कर उनमें राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की। दूसरे, रंगभेद की नीति अपनाकर, देश का आर्थिक शोषण करके, शिक्षितों को ऊँची सरकारी नौकरियों से वंचित कर उसने उनमें असंतोष पैदा किया जिसने अंग्रेजी शासन-विरोधी अथवा राष्ट्रीय भावना को जन्म दिया। इसी के फलस्वरूप १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी।

अपने प्रथम बीस वर्षों में कांग्रेस का स्वभाव नरम था। वह अंग्रेजी शासन को भारत के लिए वरदान मानती थी, अंग्रेजों की सद्भावना में उसका विश्वास था और यहाँ के शासन के दोषों का कारण वह ब्रिटिश जनता की, इस देश के संबंध में, अज्ञानता, समझती थी। अतः वह

प्रस्ताव पास करती, गवर्नर जनरल से मिलने के लिए प्रतिनिधि भेजती और पत्र-पत्रिकाओं तथा व्याख्यानों द्वारा ब्रिटिश जनता को भारत की वास्तविक स्थिति से अवगत कराती थी, किन्तु ये तरीके कारगर सिद्ध नहीं हुए। शोषण तथा रंगभेद की नीति जारी रही, यद्यपि देश में राष्ट्रीय चेतना बढ़ रही थी। यही कारण था कि देश का शिक्षित युवक कांग्रेस की 'भिखारीपन की नीति' का विरोधी बन गया और अधिक सक्रिय साधनों का—बहिष्कार, स्वदेशी आदि का या फिर आतंकवादी तरीकों का—समर्थन करने लगा। देश के राष्ट्रवादी तीन भागों में बँट गये—नरम, उग्र और आतंकवादी। इसके साथ-साथ सरकार की छाया में मुस्लिम सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिला और १९०६ में एक सांप्रदायिक तथा राजभक्त संस्था के रूप में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। सरकार ने १९०९ में मुस्लिम नेताओं की पृथक् निर्वाचन तथा अधिक सीटों की माँग को स्वीकार कर कांग्रेस के विरोध में मुस्लिम शक्ति खड़ी की। किंतु अंग्रजों की नीति कांग्रेस और लीग को कुछ ही दिन अलग रख सकी। १९१३ में वे एक-दूसरे के निकट आयीं और १९१६ में उनके बीच 'लखनऊ-समझौता' भी हो गया था।

यह वह समय था जब गांधीजी अफ्रीका में ख्याति प्राप्त करके १९१५ में भारत लौटे थे। प्रारम्भ में देश की परिस्थिति का अध्ययन करते रहे, किंतु १९१७ में चम्पारण में सत्याग्रह के कारण वे देश के सम्मुख आ गये। इस समय तक उनको अंग्रेजों की सद्भावना में विश्वास था, और उनके विचार इस सीमा तक नहीं पहुँचे थे कि वे प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की सहायता करने का विरोध करते। इसके विपरीत, उन्होंने सेना में रँगरूट भरती किये। किंतु रौलट ऐक्ट तथा जलियाँवाला काण्ड ने उनको 'असहयोगी' बना दिया। १९२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात् वे कांग्रेस के सर्वप्रमुख नेता बन गये थे और इसी वर्ष प्रारम्भ हुए असहयोग आंदोलन से कांग्रेस में एक नया युग प्रारम्भ होता

है जो १९४७ में स्वतंत्रता-प्राप्ति तक चलता है। यह राष्ट्रीय आन्दोलन का 'गांधी-युग' है जिसमें उसकी बागडोर उन्हीं के हाथों में रहती है।

गांधीजी को देश का नेतृत्व प्राप्त होने के कई कारण थे। उनमें मुख्य यह था कि देश की स्थिति अहिंसात्मक आन्दोलन के अनुकूल थी। नरम नीति प्रभावहीन सिद्ध हो चुकी थी और आतंकवाद भी, अपनी सब कुरबानियों के बावजूद, देश को आगे ले जाने में असमर्थ हो रहा था। अतः देश को ऐसी पद्धति की आवश्यकता थी जो उसकी स्थिति के अनुकूल हो, सरकार से संघर्ष करने में अधिक सक्रिय हो, जिसमें जनता भी भाग ले सके और जो विश्व की सहानुभूति भारत के लिए प्राप्त कर सके। 'सत्याग्रह' का तरीका ऐसा ही था।

प्रथम महायुद्ध ने राष्ट्रवाद को शक्ति प्रदान की थी। 'लोकतन्त्र के लिए' लड़ा जानेवाला वह युद्ध भारत में स्वातन्त्र्य-प्रेम ही उत्पन्न कर सकता था। भारत के वीर सैनिकों के विदेशी अनुभवों ने उनकी आंखें खोल दी थीं, और ये सैनिक साधारण और निर्धन वर्ग के ग्रामीण थे। देश में आर्थिक असंतोष भी बढ़ रहा था। किसान और मजदूर वर्ग में जागृति हो रही थी। भारत को आशा थी कि युद्ध के पश्चात् उसके साथ न्याय किया जायगा। किंतु युद्ध के बाद उसको निराशाओं का सामना करना पड़ा। मुसलमान तुर्की के साथ किये जानेवाले व्यवहार से अत्यंत रुष्ट थे। समाज में प्रत्येक वर्ग किसी-न-किसी कारण से असंतुष्ट था, और इसीको गांधीजी ने बाहर निकलने का एक मार्ग दिया। इस प्रकार देश में उनके मार्ग दर्शन में खिलाफत और असहयोग आन्दोलन चले। जनता में इनके लिए बड़ा उत्साह था। हिंदू और मुसलमान मिलकर संघर्ष में एकरत थे। आन्दोलन तीव्रता पकड़ता जा रहा था और ऐसा प्रतीत होता था कि 'एक वर्ष में स्वराज्य' की बात लगभग सही सिद्ध होगी। किंतु आन्दोलन में विकृति के चिह्न भी दिखायी दे रहे थे, और चौरी-चौरा की घटना

के बाद गांधीजी को आन्दोलन स्थगित करना पड़ा। उनका यह अटल विश्वास था कि हिंसा देश के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध होगी और करा-धरा मिट्टी हो जायगा।

किंतु गांधीजी के इस पग का देश पर प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा था। मुसलमानों को इससे बड़ा धक्का लगा। कांग्रेसी नेता भी असंतुष्ट हुए। सरकार ने भी गांधीजी पर मुकदमा चलाने का साहस किया और उनको छः वर्ष का कारावास दिया गया। किंतु इन सबके होते हुए भी इस आन्दोलन ने देश को स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ाया था। आंदोलन के लिए एकत्रित किये गये 'तिलक स्वराज्य फंड' ने, स्वयंसेवकों की भरती तथा चरखे के प्रचार ने शिक्षित नवयुवकों को गांव के संपर्क में ला दिया था, 'स्वराज्य' की बात अब घर-घर पहुँच गयी थी, महिलाओं में भी जागृति उत्पन्न हो गयी थी, कारावास का भय जाता रहा था, कांग्रेस की अवसरवादियों से शुद्धि हो गयी थी और वह अब निम्न मध्यम वर्ग के नेतृत्व में जनसंस्था बन गयी थी।

आन्दोलन के स्थगित होने तथा मुस्तफ़ा कमाल पाशा द्वारा खिलाफ़त को समाप्त कर देने पर, हिंदू और मुसलमान आपस में लड़ने लगे। यह स्वीकार करना होगा कि खिलाफ़त की प्रतिक्रियावादी मांग ने धार्मिक कट्टरता को ही बढ़ाया था और ऐसे सरकारी तथा गैर-सरकारी तत्व भी थे जो गांधीजी के धार्मिकपन को लेकर उनके बारे में साधारण मुसलमानों में भ्रम उत्पन्न कर सकते थे। बीमारी के कारण गांधीजी को दो साल बाद ही सरकार ने मुक्त कर दिया, और उन्होंने 'हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य' के लिए अनशन किया, जिसका प्रभाव नेताओं पर पड़ा था, किन्तु जनसाधारण पर नहीं। उनकी अनुपस्थिति में कुछ कांग्रेसी नेताओं ने सरकार के विरोध को बनाये रखने के लिए संसदीय कार्यक्रम अपनाया था। छूटने पर गांधीजी ने इसको मान्यता दी, किन्तु वे स्वयं खादी के प्रचार में लगे रहे। कांग्रेस ने प्रस्ताव

द्वारा 'अखिल भारत चर्खा संघ' की स्थापना की। आंदोलन के पश्चात् यह थकावट का काल था जबकि देश का राजनीति-चापमापक (वैरोमीटर) गिरा हुआ था।

यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही। रूस में साम्यवाद की स्थापना और १९२५ के बाद उसके द्वारा उसके प्रचार का प्रभाव पड़ रहा था, और इससे अधिक, जवाहरलालजी तथा सुभाषबाबू के देश भर में दौरे और भाषण युवकों में नये जीवन का संचार कर रहे थे। सरकार द्वारा गोरा साइमन कमीशन की नियुक्ति ने देश के सभी लोगों में, जिनमें कुछ भी स्वाभिमान था, रोष की एक लहर उत्पन्न कर दी थी। खादी के लिए गांधीजी के देशव्यापी दौरे ने भी चेतना प्रज्वलित की। कांग्रेस में इस काल में पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न को लेकर मतभेद प्रारंभ हुआ। गांधीजी के प्रयत्नों से १९२८ में कलकत्ता कांग्रेस में यह समझौता हुआ कि यदि एक वर्ष में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' मिल जाता है तो कांग्रेस उसे स्वीकार कर लेगी, अन्यथा उसका ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता होगा। १९२९ में ब्रिटेन के चुनाव में मजदूर दल विजयी हुआ किंतु उसको पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। उसने यह निश्चय किया कि भारत के लिए भावी संविधान के बारे में विचार करने के लिए लंडन में एक गोलमेज सम्मेलन होगा जिसमें भारतीय नेता आमंत्रित किये जायंगे। इस विचार का देश ने स्वागत किया, किंतु इस स्पष्टीकरण के अभाव में कि सम्मेलन 'औपनिवेशिक संविधान' बनाने के लिए ही बुलाया जा रहा है, कांग्रेस ने इसमें भाग लेने से मना कर दिया और ३१ दिसम्बर की अर्ध-रात्रि में लाहौर में 'पूर्ण स्वतन्त्रता' का प्रस्ताव पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में पास कर दिया। कांग्रेस महासमिति को इसके लिए आन्दोलन चलाने का भी अधिकार दिया गया। इस प्रकार गांधीजी के नेतृत्व में १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन की बात प्रारंभ हुई।

२६ जनवरी, १९३० का दिन 'स्वातन्त्र्य शपथ' के दिवस के रूप में मनाया गया, और उस वर्ष से १९४७ तक यह तिथि उसी दिवस के रूप में मनायी जाती रही थी। १९५० में हमने गणतन्त्र को इसी दिन जन्म देकर इसका रूपान्तरण 'गणतन्त्र दिवस' में कर दिया है। किंतु आज भी उस समय के व्यक्तियों को यह उस दिन की याद दिलाता है जब भारतीयों ने स्वतन्त्र होने की पहली बार शपथ ली थी और प्रत्येक वर्ष, जबतक स्वतन्त्र नहीं हुए, उसको दुहराते रहे थे। फरवरी में गांधीजी ने कुछ आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक माँगें सरकार के सामने रखीं और उनके अस्वीकार होने पर आन्दोलन की तैयारी प्रारंभ कर दी। इस आन्दोलन का श्रीगणेश नमक-सत्याग्रह से हुआ था; किंतु बाद में और कार्यक्रम भी, जैसे विदेशी कपड़ा और मादक वस्तुओं की दूकानों पर धरना, ब्रिटिश माल का बहिष्कार, वन-कानून का उल्लंघन इत्यादि, सम्मिलित हो गये थे। यह आन्दोलन १९२१ के आन्दोलन की तुलना में छोटा नहीं था। जनता ने अवश्य कहीं अधिक संयम दिखलाया था। पुलिस ने बड़ी क्रूरता के साथ लाठियों का उपयोग किया और पेशावर में तो पठानों पर गोलियाँ चलायी गयी थीं। यह अवश्य है कि मुस्लिम जनता ने इस आन्दोलन में भाग नहीं लिया था, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ रहा था। १९३० के लीग के अध्यक्षीय भाषण में डा० मुहम्मद इकबाल ने 'पाकिस्तान' की कल्पना प्रस्तुत कर दी थी। किंतु अधिकांश जनता ने, जो आर्थिक मंदी से पीड़ित थी, इस आन्दोलन में उत्साह से भाग लिया।

ब्रिटेन की मज़दूर सरकार तथा संभवतः भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन को दमन-नीति प्रिय न थी, और फिर कांग्रेस की अनुपस्थिति में गोलमेज सम्मेलन का कोई मूल्य नहीं रह गया था। अतः सरकार समझौते के लिए इच्छुक थी। गैरकांग्रेसी नेता भी सम्मेलन में कांग्रेस का सहयोग चाहते थे। इसलिए, २६ जनवरी, १९३१ को

गांधीजी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य मुक्त कर दिये गये और गांधी-इर्विन वार्ता प्रारंभ हुई। मार्च में समझौता हो गया। समझौते की सभी बातें ऐसी नहीं थीं जो कांग्रेस नेताओं तथा जनता को अच्छी लगतीं, किंतु समग्र रूप से यही छाप पड़ी कि कांग्रेस विजयी रही है। लार्ड इर्विन को बराबर के स्तर पर आकर गांधीजी से बात करनी पड़ी थी और आदान-प्रदान के आधार पर समझौता हुआ था। इसके बाद ही कांग्रेस का अधिवेशन करांची में हुआ जिसमें बहुत वाद-विवाद के बाद समझौते की पुष्टि की गयी। उस अधिवेशन में यह समाचार मिलने पर कि सरदार भगतसिंह को फाँसी दे दी गयी है, सरकार के प्रति बड़ा रोष उत्पन्न हो गया था और लोगों को इसका बड़ा दुःख था कि गांधीजी उनको न बचा सके थे।

कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी दूसरे गोलमेज में भाग लेने के लिए गये, किंतु वहाँ हिंदू-मुस्लिम-हरिजन प्रश्न में उलझा दिये गये और वहाँ से खाली हाथ वापस आये। इसका मुख्य कारण था इस बीच में इंग्लैंड में मजदूर सरकार का पतन और 'राष्ट्रीय सरकार' के नाम से अनुदार सरकार की स्थापना। प्रधान मंत्री पुराने मजदूर दल के नेता ही थे, किंतु उनके साथी तो भारत की आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति रखनेवाले नहीं थे। लार्ड इर्विन भी भारत से जा चुके थे और उनका स्थान लेनेवाले लार्ड विलिंग्डन कठोर नीति में विश्वास रखते थे।

उनके कारण भारत में गांधीजी की अनुपस्थिति में सरकार का दमन-चक्र चल रहा था। उससे विवश होकर गांधीजी को, लौटने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करना पड़ा। इस बार पद्धति में कोई नवीनता नहीं थी। पुरानी पद्धति से सरकार परिचित हो चुकी थी और उसके दमन के बारे में उसने सोच लिया, अतः इस बार प्रारम्भ से ही उसने दमन-नीति अपनाकर आन्दोलन को प्रभावहीन बना दिया। वैसे

इसमें भाग लेनेवालों की संख्या १९३० के आन्दोलन से कम नहीं थी। इसी बीच अगस्त १९३२ में प्रधान मंत्री के 'साम्प्रदायिक निर्णय' में हरिजनों के पृथक् निर्वाचन की माँग को स्वीकार किया गया था। इसके विरुद्ध गांधीजी ने अनशन प्रारम्भ किया, और उनको बचाने की दृष्टि से सवर्ण हिन्दुओं ने 'हरिजन नेताओं' के साथ 'पूना समझौता' किया। उसको सरकारी मान्यता प्राप्त हो जाने पर गांधीजी ने अपना अनशन समाप्त किया। उसके बाद देश के सम्मुख मुख्य प्रश्न हरिजनों का बन गया, सविनय अवज्ञा से उसका ध्यान हट गया और वह आन्दोलन मृत-प्राय हो गया। अन्त में वह समाप्त हो गया। जेल से छूटने पर गांधीजी की शक्ति हरिजन-सेवा कार्य में लगी, 'हरिजन' साप्ताहिकों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और 'हरिजन-सेवक संघ' की स्थापना हुई।

इस सबके दो परिणाम हुए। एक, गांधीजी का ध्यान ग्रामजीवन की ओर गया। वह वर्धा के पास 'सेगांव' ग्राम में जाकर रहने लगे, और उन्होंने 'ग्रामोद्योग संघ' की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने अपना ध्यान रचनात्मक कार्यों में विशेष रूप से लगाया, जैसा उन्होंने पहले असहयोग आन्दोलन के बाद भी किया था। किन्तु समय के साथ-साथ उनकी दृष्टि में रचनात्मक कार्यों का महत्व बढ़ता जा रहा था। दूसरे, गांधीजी की आन्दोलन-नीति तथा संचालन के प्रति बहुत-से कांग्रेसी नेताओं में असन्तोष उत्पन्न हुआ, और उनकी आलोचना की जाने लगी। कुछ ने उनको 'तानाशाह' भी कहा। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता ही १९३४ में त्याग दी, और फिर वह कभी उसके सदस्य नहीं बने। किन्तु कांग्रेस उनका परित्याग न कर सकी। उसको उनके परामर्श की आवश्यकता सदैव लगती रही, और उनको उसके प्रमुख सलाहकार के रूप में अन्त तक मार्गदर्शन करना पड़ा। यह बात सुभाष-चन्द्र बोस को बहुत अखरी थी क्योंकि गांधीजी के साथ उनके बुनियादी भेद थे और दोनों पक्षों में समझौता सम्भव नहीं था। इसीके फलस्वरूप

सुभाषचन्द्र बोस को १९३८ में कांग्रेस छोड़नी पड़ी थी।

१९३५ में 'भारत सरकार ऐक्ट' पास हुआ और उसके अन्तर्गत १९३६-३७ में प्रान्तीय विधान-सभाओं के लिए चुनाव हुए। सभी हिन्दू प्रान्तों में कांग्रेस की भारी विजय हुई और कुछ अन्य प्रान्तों में उसे सर्वाधिक स्थान प्राप्त हुए। सरकार से कुछ वार्ता के बाद कांग्रेस ने हिन्दू प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये और बाद में सीमाप्रान्त में भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई। इन मन्त्रिमण्डलों ने जनता के लाभ के लिए कई काम किये--भूमि-व्यवस्था के कानून में संशोधन किया, कुछ जिलों में मद्य-निषेध लागू किया और शिक्षा का प्रसार किया। इसी समय गांधीजी ने 'नयी तालीम' का विचार, जिसमें शिक्षा का माध्यम कोई-न-कोई उद्योग है और जिसमें कल्पना यह है कि शिक्षा स्वावलम्बी होगी, रखा था। प्रान्तीय सरकारों ने इसके भी प्रयोग किये; किन्तु यह वह समय था जब द्वितीय महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे, और युद्ध प्रारम्भ होने पर भारत सरकार ने भारतीय नेताओं से बगैर परामर्श किये देश को युद्ध में शामिल कर दिया था। यह कांग्रेस के नेताओं को बुरा लगा और उन्होंने यह माँग की कि युद्ध के ध्येयों को भारतीय भूमिका में स्पष्ट किया जाय। सरकार को यह स्वीकार न था, और कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया।

इस बीच देश में हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न तीव्र रूप लेता जा रहा था। डा० इकबाल के पाकिस्तान के विचार का समर्थन गोलमेज सम्मेलन के समय, कुछ कैम्ब्रिज के मुस्लिम छात्रों ने किया था, किन्तु उस समय इसको कोई महत्व नहीं दिया गया था। १९३७ के चुनाव के बाद जब कांग्रेस ने लीग के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने से मना कर दिया और संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम जन-सम्पर्क का कार्यक्रम अपनाया, तो लीग को भी मुस्लिम जनता में जाने की आवश्यकता लगी और जैसी उसकी रचना थी, वह 'हिन्दू भय' को ही आधार बनाकर उनमें जा सकती थी।

इसी कारण अब पाकिस्तान के विचार का भीप्रच ार होने लगा। उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की योजनाएँ मुस्लिम बुद्धिजीवियों ने रखनी प्रारंभ कर दीं, और अन्त में १९४० में लीग ने पाकिस्तान के ध्येय को स्वीकार कर लिया। अतः जब-जब कांग्रेस युद्ध के प्रारम्भ में सरकार से राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए कहती थी, अथवा भारतीय भूमिका में युद्ध के ध्येयों के स्पष्टीकरण की माँग करती थी, तब-तब सरकार हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों की आड़ ले लेती थी। गांधीजी तथा नेहरूजी ने जिन्ना साहब से बात भी की, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला।

युद्ध के समय कांग्रेस असमंजस में थी। एक ओर उसकी सहानुभूति ब्रिटेन जैसे लोकतान्त्रिक देशों के साथ थी और वह युद्ध-प्रयत्नों में बाधा डालना न चाहती थी, किन्तु दूसरी ओर उसे सरकार की निरंकुश नीति का विरोध आवश्यक लगता था। गांधीजी तो अहिंसा पर बल दे रहे थे, किन्तु कांग्रेस में ऐसे नेताओं का जोर था जो कुछ शर्तों पर सरकार के साथ युद्ध-प्रयत्नों में सहयोग करने को तैयार थे। यह सभी जानते थे कि देश में साधारण जनता में अंग्रेज-विरोधी भावना है, किंतु साथ ही यह विश्वास था कि सरकार द्वारा उचित कदम उठाये जाने पर जनता सरकार के समर्थन के पक्ष में हो जायगी। मुख्य प्रश्न तो सरकार की नीति का ही था। अंत में सरकार के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए १९४० में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। ऐसा करने के पूर्व गांधीजी के नेतृत्व को तिलांजलि देकर कांग्रेसी नेताओं ने सरकार के सामने सहयोग का प्रस्ताव रखा था, किंतु उनकी शर्तें सरकार को स्वीकार न थीं। अतः फिर उनको गांधीजी से उनके नेतृत्व के लिए प्रार्थना करनी पड़ी थी। इस सत्याग्रह का रूप ऐसा था कि सरकार का विरोध भी प्रकट हो जाय और उसके युद्ध-संचालन में बाधा न पड़े। देश में इसके लिए उत्साह न था और जापान के युद्ध में आने के तीन दिन पहले सरकार ने सभी सत्याग्रही बंदियों को मुक्त कर दिया था।

मलाया और बर्मा में जापान की प्रगति से सरकार और कांग्रेसी नेताओं दोनों को ही चिंता हुई। अमरीका में ब्रिटेन की भारतीय नीति की आलोचना हो रही थी। अतः १९४२ की मार्च में सर स्टेफर्ड क्रिप्स एक योजना के साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत भेजे गये, उनके आग्रह पर गांधीजी भी उनसे मिले थे। उनकी योजना कांग्रेसी नेताओं को स्वीकार नहीं हुई क्योंकि उसमें तत्काल भारतीय नेताओं के हाथ में उत्तरदायित्व सौंपने का विचार नहीं था। क्रिप्स ने अपनी असफलता का कारण गांधीजी के प्रभाव को बताया था, किंतु यह गलत था।

क्रिप्स की असफलता से देश में कटुता का वातावरण निर्मित हुआ। लोगों को लगा कि यह सब दिखावा था और विश्व की आँखों में चर्चिल की सरकार द्वारा धूल झोंकने का प्रयास था। इधर जापानी प्रगति से देश को खतरा बढ़ रहा था। अतः गांधीजी 'भारत छोड़ो' विचार पर पहुँच रहे थे और अन्त में अगस्त १९४२ में कांग्रेस की महासमिति ने 'भारत छोड़ो' का प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया। सरकार इसी की प्रतीक्षा में थी और यद्यपि कांग्रेस का कोई विचार तत्काल आन्दोलन छेड़ने का नहीं था, उसने गांधीजी, कार्यकारिणी के सदस्यों और अन्य नेताओं को, वे जहाँ भी मिले, गिरफ्तार किया। इस प्रकार जनता को नेताविहीन कर दिया गया। उचित नेतृत्व के अभाव में जनता ने तोड़-फोड़ की नीति अपनायी और देश के कुछ क्षेत्रों में बड़ी कठिनाई के बाद ही सरकार स्थिति पर काबू पा सकी थी। सरकार ने इसके लिए गांधीजी को दोषी ठहराया और इसपर फरवरी १९४३ में उन्होंने २१ दिन का अनशन किया। सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और लगता था कि कांग्रेस सदैव के लिए कुचल दी गयी है। किंतु फरवरी १९४४ में कस्तूरबा गांधी का आगाखां महल में स्वर्गवास हो गया और उसके बाद बीमार पड़ने पर गांधीजी अप्रैल में छोड़ दिये गये।

जेल से छूटकर गांधीजी ने देश में उत्पन्न गतिरोध को दूर करने

का प्रयास किया। वायसराय लार्ड वेवल को लिखा और श्री राज-गोपालाचार्य की पाकिस्तान-संबंधी योजना के आधार पर जिन्नासाहब से बातचीत की। किंतु कुछ परिणाम न निकला। धीरे-धीरे युद्ध जैसे समाप्त हो रहा था, ब्रिटिश सरकार को लगा कि कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा। अतः जून १९४५ में लार्ड वेवल ने अपनी योजना पेश की, कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को मुक्त किया और शिमला में नेताओं तथा मुख्य मंत्रियों का सम्मेलन बुलाया। किंतु लीग-कांग्रेस मतभेदों के कारण कोई परिणाम नहीं निकला। उसके बाद इंग्लैंड के चुनावों में मज़दूर दल विजयी हुआ और भारतीय समस्या को सुलझाने का उत्तर-दायित्व उसपर आ गया। इसी समय युद्ध समाप्त होने पर देश का राजनीतिक चापमापक (बैरोमीटर) तेजी से ऊपर जा रहा था। आई० एन० ए० और नाविकों के विद्रोह से यह स्पष्ट हो रहा था कि सेना में भी राजद्रोह की भावना उत्पन्न हो रही है। ऐसी स्थिति में पहले चुनाव कराकर प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारों की स्थापना की गयी और फिर मंत्रि-परिषद् का एक प्रतिनिधि-मण्डल भारत आया और देश के नेताओं से मिला, जिससे कांग्रेस और लीग में उत्पन्न गतिरोध दूर हो। उसने मई १९४६ में अपनी योजना देश के सामने रखी जिसको लीग ने तथा अपनी व्याख्या के साथ कांग्रेस ने स्वीकार किया। किंतु अन्त-रिम सरकार को लेकर फिर मतभेद खड़ा हो गया और लीग द्वारा पूरी योजना को अस्वीकार करने पर कांग्रेस को सरकार ने गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका के निर्माण में सहयोग के लिए आमंत्रित किया। पंडित जवाहरलालजी ने जिन्नासाहब से मिलकर समझौता करना चाहा, पर असफल हे। पराकर इसग्रेस ने कुछ औरों के साथ मिलकर कार्य-पालिका के निर्माण में भाग लिया।

इस सबसे क्रोधित होकर लीग ने 'प्रत्यक्ष कार्रवाई' प्रारम्भ की और कलकत्ते में हिंदू-मुस्लिम झगड़ा प्रारम्भ हुआ। फिर उसकी प्रतिक्रिया

नोआखाली, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब इत्यादि में हुई। इस प्रकार देश में साम्प्रदायिकता की आग भड़क उठी। सितम्बर में लीग भी गवर्नर जनरल की कार्य-पालिका में शामिल हो गयी थी, किन्तु उसका ध्येय केवल बाधा डालना ही था। अतः गतिरोध बना ही रहा। अन्त में इसको दूर करने के लिए मार्च १९४७ में लार्ड माण्उटबेटन गवर्नर-जनरल बनकर आये, और वे तथा नेहरू और पटेल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विभाजन को स्वीकार करने के सिवा अब कोई चारा नहीं है। गांधीजी से इस बात पर नेहरूजी तथा पटेल ने परामर्श नहीं लिया था और उनसे पूछे बिना 'माउण्टबेटन योजना' को स्वीकार कर लिया था। गांधीजी इसके विरुद्ध थे, किंतु वृद्धावस्था के कारण वह उसका सक्रिय विरोध करके संघर्ष के लिए तैयार नहीं थे। अतः कांग्रेस महा-समिति ने नेहरू तथा पटेल के सुझाव को स्वीकार किया और १५ अगस्त १९४७ को भारत और पाकिस्तान दोनों स्वतन्त्र हो गये। उस दिन जब पूरे देश में उत्सव मनाये जा रहे थे, देश के राष्ट्रपिता कलकत्ते में थे और दुखियों के आँसू पोंछने में लगे थे। उनके चित्त में प्रसन्नता नहीं थी। वह जानते थे कि यह स्वराज्य अधूरा है। सम्भव है उनके अवचेतन मन को भावी घटनाओं का भी कुछ आभास हो गया हो। कांग्रेसी नेताओं पर से भी उनका प्रभाव उठ रहा था। यह इस बात का संकेत था कि उस महामानव का पृथ्वी पर कार्य पूरा हो चुका था और उसकी विदाई का दिन निकट था। जो घटनाएँ देश में घट रही थीं, उससे १२० वर्ष जीने की उनकी अभिलाषा समाप्त हो गयी थी। देश का वातावरण उनके विरुद्ध हो रहा था, और ऐसी स्थिति में कुछ हिंदू नवयुवक उनकी जीवन-लीला समाप्त करने के निमित्त बने।

राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी की संक्षेप में यह भूमिका रही थी। १९२४ में केवल एक बार उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता की थी। १९३४ के बाद भी वे कांग्रेस के सर्वेसर्वा-जैसे थे, किंतु उनको अधिकारी तौर

पर केवल परामर्शदाता ही कहा जा सकता है। स्वतन्त्र भारत ने उनको 'राष्ट्रपिता' के विशेषण से विभूषित किया है और यह ठीक ही है। किंतु फिर भी यह प्रश्न उठता है कि उन्होंने किस मात्रा में और किस प्रकार देश की स्वाधीनता में योग दिया।

पहले यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्वाधीनता में कई कारणों ने काम किया। नर्म दल, आतंकवादी, आई० एन० ए० सभी का कुछ-न-कुछ हाथ है। और इससे अधिक, युद्ध के बाद की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का हाथ था जिसमें ब्रिटेन अत्यन्त दुर्बल हो गया था। व्यापारियों का राष्ट्र होने के नाते उसने अपनी इस विवशता से भी लाभ उठाया और सद्भावना के साथ वह यहाँ से विदा हो गया। किंतु इस परिस्थिति से लाभ उठाने की क्षमता देश में होनी चाहिए थी, और इसके लिए उसको तैयार करने में सबसे बड़ा हाथ गांधीजी द्वारा चलाये गये आंदोलनों का था। उनके द्वारा देश की जनता में जिस चेतना और वृत्ति का संचार हुआ था, वह स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए परमावश्यक थी। यही कारण है कि कुछ चढ़ाव-उतार के साथ उनकी लोकप्रियता सदैव देश में बनी रही। उन्होंने देश के मस्तक को विदेशियों की दृष्टि में भी ऊंचा उठाया और उनकी पद्धति ने हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन के लिए विदेशों में सहानुभूति उत्पन्न की। अपनी स्वतन्त्रता के बहुत वर्षों बाद तक हम इस पूंजी का लाभ उठाते रहे हैं, और आज का विश्व भी विचार और आचार के क्षेत्र में उनकी प्रासंगिकता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से स्वीकार करता है।

गांधीजी ने अपने 'स्वराज्य' की परिभाषा भले कभी न की हो, किंतु उन्होंने उसको एक ऐसा विचार-तत्व प्रदान किया जो अत्यावश्यक था। उनको साम्यवादी और समाजवादी भले समाजवादी न माने, किंतु वे समाज के लिए अर्पित थे और उनको सदैव चिंता 'अंतिम व्यक्ति' की ही रहती थी। समाज के पिछड़े और कुचले वर्गों के लिए उनमें

वेदना थी और उनके रचनात्मक कार्य का ध्येय उनके कष्टों को दूर करना और उनकी व्यथा का जड़ से इलाज करना था। दुःखी जनों के आँसू को पोंछना उनके जीवन का एक ध्येय था, और उनका कहना था कि जब कभी हम असमंजस में हों तो हमारी कसौटी यह होनी चाहिए कि हमारे कामों का प्रभाव देश के छोटे-से-छोटे, दुःखी-से-दुःखी व्यक्ति पर क्या पड़नेवाला है। इसके बिना राष्ट्रीय एकीकरण का हमारा विचार खोखला रहनेवाला है। स्वाधीनता आन्दोलन के काल में देश ने जो एकता प्रदर्शित की थी, उसके पीछे गांधीजी के सामाजिक तथा आर्थिक विचारों का भी हाथ था। देश का अंतिम व्यक्ति उनको अपना ही मानता था और उसका पूर्ण विश्वास उनपर था।

—विश्वनाथ टण्डन

: १ :

गांधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आंदोलन

पहली बड़ी लड़ाई से पहले (अर्थात् सन् १९१४ से पूर्व), जबकि भारत में कोई राजनैतिक चेतना नहीं थी, एक सुदूर देश में भारत की मर्यादा के लिए एक वीरतापूर्ण और अद्वितीय लड़ाई छिड़ी। वह देश दक्षिण अफ्रीका था—जहाँ भारत के बहुत-से मजदूर और कुछ व्यापारी भी जा बसे थे। वहाँ उनका बड़ा अनादर होता था और उनके साथ तरह-तरह का बुरा बर्ताव किया जाता था, क्योंकि उन दिनों वहाँ जातीय अहंकार का बोलबाला था। तभी ऐसा हुआ कि भारत का एक नौजवान बैरिस्टर एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ्रीका ले जाया गया। वहाँ उसने अपने देश के भाईबंदों की दुर्दशा देखी और इससे वह बड़ा अपमानित और दुःखी हुआ। उसने उनकी सहायता में अपना तन, मन, धन—सबकुछ लगा देने का संकल्प कर लिया। कई वर्ष तक वह चुपचाप काम करता रहा, उसने अपना वकालत का पेशा छोड़ दिया—उसके पास जो कुछ भी था सब त्याग दिया और जिस ध्येय को लेकर वह आगे बढ़ा था उसीमें पूरी तरह से लीन रहा।

यह आदमी मोहनदास करमचन्द गांधी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा उसे जानता और प्यार करता है, किंतु उन दिनों उसे दक्षिण अफ्रीका से बाहर बहुत ही कम लोग जानते थे। एकाएक उसका नाम बिजली

की तरह कौंधकर भारत तक पहुँच गया और लोग उसकी तथा उसके वीरतापूर्ण संघर्ष की आश्चर्य, प्रशंसा और गर्व के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने वहां के भारतीयों को और भी अधिक अपमानित करने की चेष्टा की, पर भारतीयों ने गांधी के नेतृत्व में, सिर झुकाने से इंकार कर दिया। यह एक ताज्जुब की बात थी कि गरीब, पद-दलित और अज्ञानी मजदूरों ने और उनके साथ कुछ मोटे-मोटे व्यापारियों ने, स्वदेश से इतनी दूर रहते हुए भी ऐसा साहस दिखलाया।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक था वह तरीका जिसे इन लोगों ने अपनाया था और जो एक राजनैतिक हथियार के रूप में विश्व के इतिहास में बिलकुल नया प्रयोग था। तब से हम उसका नाम अक्सर सुनते आये हैं। वह था गांधी का 'सत्याग्रह'—जिसका अर्थ है सत्य पर डटे रहना। कभी-कभी वह 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से भी पुकारा जाता है, किंतु यह उसका शुद्ध अनुवाद नहीं है, क्योंकि सत्याग्रह में काफी क्रियाशीलता होती है। यद्यपि अहिंसा उसका एक मुख्य अंग है, तथापि वह केवल विरोध का अभाव मात्र नहीं है। गांधी ने अपने इस अहिंसात्मक युद्ध से भारत और दक्षिण अफ्रीका को चकित कर दिया और भारतवासियों को यह जानकर बड़ा हर्ष और गौरव अनुभव हुआ कि दक्षिण अफ्रीका में हमारे हजारों भाई-बहन हँसते-हँसते जेल जा रहे हैं। अपने देश की गुलामी और नपुंसकता पर हम मन-ही-मन बड़े लज्जित थे और अब अपने ही भाई-बहनों द्वारा दी गयी इस साहसपूर्ण चुनौती का नमूना देखकर हमारा आत्मसम्मान ऊँचा उठ गया। एकाएक इस प्रश्न पर सारे भारतवर्ष में राजनैतिक चेतना जाग उठी और रुपया धड़ाधड़ दक्षिण अफ्रीका पहुँचने लगा। यह संघर्ष तबतक बन्द नहीं हुआ जबतक कि गांधीजी और दक्षिण अफ्रीका की सरकार में समझौता नहीं हो गया।

१९१८ का भारत

महायुद्ध के बाद भारतवासी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते रहे कि देखें अब हमें क्या मिलता है। उनके मन में क्रोध था, वे लड़ने को उतारू दिखाई देते थे, उन्हें कुछ आशा भी नहीं थी, फिर भी वे प्रतीक्षा में थे। कुछ ही महीनों में नयी ब्रिटिश नीति का पहला फूल, जिसका कि इतनी उत्सुकता के साथ इन्तजार किया जा रहा था, एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में दिखाई दिया, जिसमें क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए खास कानून पास करने की व्यवस्था की गयी थी। अधिक स्वतंत्रता के बदले अधिक दमन होनेवाला था। इन कानूनों का प्रस्ताव एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर तैयार किया गया था और वे 'रौलट बिल' कहलाते थे। कुछ ही दिनों में ये बिल देश के कोने-कोने में 'काले-बिल' कह कर पुकारे जाने लगे और सब जगह सब वर्गों के भारत-वासियों ने, जिनमें नरम-से-नरम विचारवाले भी शामिल थे, उनकी निन्दा की। इन बिलों में सरकार को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये थे और पुलिस को लोगों को गिरफ्तार करने, अदालत में पेश किये बिना ही जेल में रखने या जिस किसी को वह पसन्द नहीं करती थी व शक की नजर से देखती थी, उसपर गुप्त अदालती कार्रवाई करने का हक दिया गया था। उन दिनों इन बिलों का वर्णन आमतौर पर इन शब्दों में किया जाता था: 'न वकील, न अपील, न दलील'। जैसे-जैसे इन बिलों का विरोध जोर पकड़ता गया, वैसे-वैसे एक नयी वस्तु प्रकट होती गयी—देश के राजनैतिक आकाश में बादल का एक छोटा टुकड़ा दिखाई दिया जो बड़ी तेजी से बढ़ा और फैलते-फैलते सारे आकाश में छा गया।

यह नया तत्त्व था मोहनदास करमचन्द गांधी। लड़ाई के दिनों में ही वह दक्षिण अफ्रीका से लौट आया था और साबरमती के आश्रम में अपने साथियों को लेकर बसा था। अबतक वह राजनीति से अलग रहा

था। उसने सरकार को युद्ध के लिए रँगरूटों की भरती तक करने में सहायता दी थी। दक्षिण अफ्रीका के अपने सत्याग्रह संघर्ष के बाद से वह भारत में काफी ख्याति पा चुका था। सन् १९१७ में उसने बिहार के चम्पारन जिले के यूरोपियन निलहे गोरों से दुःखी और पद-दलित किसानों के पक्ष का बड़ी सफलता के साथ समर्थन किया था। बाद में वह गुजरात में खेड़ा के किसानों का पक्ष लेकर खड़ा हुआ था। सन् १९१९ के आरम्भ में वह बहुत बीमार पड़ गया और अभी वह स्वस्थ भी न हो पाया था कि रौलट बिल के विरोध से देश का कोना-कोना गूँज उठा। इस व्यापक क्रन्दन में उसने भी आवाज मिला दी।

सत्याग्रह आन्दोलन

महात्मा गांधी ने ऐसे लोगों की एक सत्याग्रह सभा बनायी जो कुछ चुने हुए कानूनों को भंग कर अपने आपको गिरफ्तार कराने को तैयार थे। उस समय यह एक बिलकुल नया विचार था और हममें से बहुत-से लोग उससे उत्तेजित हुए। यद्यपि बहुत-से पीछे भी हटे। आज वही सत्याग्रह एक रोजमर्रा की घटना बन गया है और हममें से अधिकांश के लिए तो वह जीवन का एक नियमित और स्थायी अंग हो गया है। जैसा कि गांधीजी किया करते थे, पहले उन्होंने वाइसराय के पास एक नम्र अपील और चेतावनी भेजी, लेकिन जब उन्होंने देखा कि भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रौलट बिलों को कानून का रूप देने पर तुली है, तो उन्होंने कानून बनने के बाद पहले इतवार को ही सारे देश में शोक मनाने, हड़ताल करने, हर तरह का काम बन्द रखने और सभाएं करने की अपील की। यह सत्याग्रह आन्दोलन का श्रीगणेश करने के लिए किया गया था और इसी अपील के अनुसार रविवार, ६ अप्रैल, १९१९ को सारे देश में—गाँव-गाँव और शहर-शहर में—'सत्याग्रह दिवस' मनाया गया। अपने ढंग का यह पहला अखिल भारतीय प्रदर्शन था। उसका लोगों पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और उसमें सभी

प्रकार के लोगों और जातियों ने भाग लिया। हममें से जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिए कार्य किया था, वे उसकी सफलता पर स्तम्भित रह गये। हम शहरों के बहुत ही कम लोगों तक पहुँच पाये थे, किन्तु देश में एक नयी फिजा छायी हुई थी और किसी-न-किसी तरह हमारा सन्देश लम्बे-चौड़े देश के दूर-दूर गाँवों तक पहुँच गया था। यह पहला अवसर था जब गाँव और शहरवालों ने साथ-साथ एक व्यापक राजनैतिक प्रदर्शन में भाग लिया।

दिल्ली में तारीख की भूल से हड़ताल एक सप्ताह पहले अर्थात् ३१ मार्च १९१९ ही को मना ली गयी थी। उन दिनों दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानों में गजब का भाईचारा और प्यार था और वह दृश्य कितना रोमांचकारी था जबकि आर्यसमाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद में जाकर एक बहुत बड़े मजमे के सामने भाषण दिया था। उस ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने गलियों में जमा हुई बड़ी-बड़ी भीड़ों को तितर-बितर करने की चेष्टा की और उनपर गोलियाँ तक चलायीं, जिससे कई लोग मारे गये। स्वामी श्रद्धानन्द ने, जिनका लम्बा शरीर संन्यासियों के वस्त्रों में बड़ा भव्य दिखाई देता था, चांदनी चौक में गुरखों की संगीनों का निश्चल दृष्टि और खुली छाती के साथ सामना किया। ये संगीनें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकीं और इस घटना से सारे भारतवर्ष में रोमांच हो गया; किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि आठ साल भी नहीं बीतने पाये थे कि एक मतवाले मुसलमान ने धोखे से रोगशैय्या पर ही उनकी हत्या कर डाली।

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाने के बाद घटनाएँ बड़ी तेजी से आगे बढ़ीं। १० अप्रैल को अमृतसर में गड़बड़ी हुई जबकि अपने नेता डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल की गिरफ्तारी पर शोक मनाती हुई निःशस्त्र और नंगे सिरवाली भीड़ फौज की गोलियों का शिकार बनी और उसमें से कई लोग मारे गये। इसपर भीड़ ने बदले के उन्माद में

दफ्तरों में बैठे हुए पांच या छः निर्दोष अंग्रेजों को मार डाला और बैंकों की इमारतें फूंक डालीं। इसके बाद मानो पंजाब पर एक परदा पड़ गया। वहाँ कड़ा सेन्सर बैठा दिया गया और पंजाब शेष भारत से बिलकुल कट-सा गया। वहां से शायद ही कोई खबर आ पाती थी और लोगों को वहां आना-जाना मुश्किल था। वहाँ फौजी कानून भी जारी कर दिया गया था, जिसका कष्ट जनता को कई महीनों तक उठाना पड़ा। धीरे-धीरे हफ्तों और महीनों की यातनापूर्ण प्रतीक्षा के पश्चात् परदा उठा और वहां के भीषण सत्य का पता चला।

अमृतसर हत्याकाण्ड

१३ अप्रैल को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में जो कत्ले-आम हुआ था उसे सारी दुनिया जानती है। मौत के उस फंदे में फँसकर, जिससे निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हजारों की जानें गयीं और हजारों घायल हुए। 'अमृतसर' शब्द ही नरसंहार का पर्यायवाची बन गया। वहाँ की घटना तो भयंकर थी ही, उससे भी अधिक लज्जाजनक घटनाएँ सारे पंजाब में घटीं।

यह एक अजीब संयोग की बात थी कि उसी साल, दिसम्बर के महीने में, कांग्रेस का अधिवेशन भी अमृतसर में हुआ। इस अधिवेशन में कोई महत्वपूर्ण निर्णय नहीं किया गया, क्योंकि बहुत-सी बातों की जाँच की गयी थी और उसके परिणाम का इन्तजार था। फिर भी एक बात साफ दिखाई देती थी—वह यह कि कांग्रेस अब पहले वाली कांग्रेस नहीं रह गयी थी। उसमें अब सामूहिकता या जन-व्यापकता आ गयी थी और एक नयी—कुछ पुराने कांग्रेसियों की समझ में एक चिन्ताजनक—जीवनी-शक्ति आ गयी थी। उस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक उपस्थित थे, जो सदा की भाँति समझौते के लिए तैयार नहीं थे। वह आखिरी अधिवेशन था, जिसमें उन्होंने भाग लिया था, क्योंकि अगले अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। उसमें गांधीजी भी थे, जो जनता के प्रिय

बन गये थे और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति पर अपनी दीर्घकालीन प्रभुता का आरम्भ ही कर रहे थे। उसी कांग्रेस में सीधे जेल से ऐसे बहुत-से नेता आये थे जिनका फौजी कानून के दिनों में बड़े भयंकर षड्यन्त्रों से सम्बन्ध रहा था और जिन्हें लम्बी-लम्बी कैद की सजा हुई थी, किन्तु जिन्हें अब क्षमा कर दिया गया था। प्रसिद्ध अली-बन्धु भी कई साल तक नजरबन्द रहने के बाद ठीक समय छूट कर आये थे।

: २ :

असहयोग की ओर

अगले साल कांग्रेस मैदान में कूद पड़ी और गांधीजी का असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया गया। यह निर्णय कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में किया गया और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में इसकी पुष्टि की गयी। संघर्ष की यह प्रणाली बिलकुल शांत या जैसा कि उसे नाम दिया गया था, अहिंसात्मक थी। उसका बुनियादी सिद्धांत यह था कि ब्रिटिश सरकार को उसके शासन-कार्य और भारत के शोषण में सहायता देने से इंकार कर दिया जाय। श्रीगणेश कई प्रकार के बहिष्कारों से किया जानेवाला था — विदेशी सरकार द्वारा दी गयी उपाधियों का बहिष्कार, सरकारी उत्सवों का बहिष्कार, वकीलों और मुवक्किलों द्वारा अदालतों का बहिष्कार, सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के अंतर्गत बनायी गयी नयी कौन्सिलों का बहिष्कार। बाद में सिविल और फौजी नौकरियों और टैक्सों का भी बहिष्कार किया जानेवाला था। रचनात्मक दिशा में हाथ से सूत कातने, खद्दर पहनने और अदालतों के बदले पंचायती न्यायालयों की स्थापना पर जोर दिया जाता था। इनके अलावा कांग्रेस कार्यक्रम के दो और मुख्य स्तम्भ थे—(१) हिंदू-मुस्लिम एकता और (२) हिंदुओं में से छुआ-छूत की भावना का निवारण।

कांग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया और वह एक कार्य-क्षम संस्था बन गयी। साथ ही उसने अपने सामने जनता की सामूहिक

सदस्यता का ध्येय भी रखा।

नया कार्यक्रम

कांग्रेस का यह कार्यक्रम उसके अबतक के कार्य से बिलकुल भिन्न था। निस्संदेह यह इस संसार में एक निराली योजना थी, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित था। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्ग के लोगों को तत्काल बड़े-बड़े त्याग करने पड़े। उदाहरण के लिए, वकीलों से बकालत छोड़ने के लिए कहा गया और विद्यार्थियों को सरकारी कालिजों का बहिष्कार करने का आदेश दिया गया। इस महान् प्रयोग के मूल्य को आँकना बड़ा मुश्किल था, क्योंकि और कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिससे उसकी तुलना की जाती। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेसी नेता झिझके और उन्हें नये कार्यक्रम की सफलता पर संदेह हुआ। उस समय के सबसे बड़े नेता लोकमान्य तिलक कुछ पहले ही मर चुके थे। दूसरे प्रमुख नेताओं में से शुरू-शुरू में केवल एक पं० मोतीलाल नेहरू ने गांधीजी का समर्थन किया, किंतु आम कांग्रेसियों और जन-साधारण की प्रवृत्ति के संबंध में कोई संदेह नहीं रह गया। उनपर गांधीजी का बड़ा जबरदस्त प्रभाव पड़ा। ऐसा लगता था जैसे गांधीजी ने उनपर कोई जादू कर दिया है और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय' के ऊँचे-ऊँचे नारे लगाते हुए उनको अहिंसात्मक असहयोग के नये सिद्धान्त को अपनी स्वीकृति प्रदान की। मुसलमानों ने भी कम उत्साह नहीं दिखाया। सच पूछिए तो अली-बंधुओं के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी ने इस कार्यक्रम को कांग्रेस से पहले ही अपना लिया था। थोड़े ही दिनों बाद जनता के उत्साह और असहयोग आंदोलन की प्रारम्भिक सफलताओं ने अधिकांश पुराने कांग्रेसी नेताओं को भी अपनी ओर खींच लिया।

राष्ट्रीयता के विकास ने जनता का ध्यान राजनैतिक स्वतंत्रता की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया। यह आवश्यकता केवल इसलिए

नहीं थी कि निर्भर और दास बने रहना अपमानजनक था, या जैसा कि तिलक ने कहा था, स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार था और उसे प्राप्त करना हमारे लिए अनिवार्य था, बल्कि इसलिए भी कि जनता पर से निर्धनता का बोझ कम करना था। आखिर यह स्वतंत्रता कैसे मिल सकती थी ? स्पष्ट ही वह हमारे चुपचाप बैठकर प्रतीक्षा करते रहने से नहीं मिल सकती थी। यह भी स्पष्ट हो गया था कि केवल विरोध करने और भीख मांगने की नीति, जिसका अनुसरण अबतक कांग्रेस न्यूनाधिक उत्साह से करती आयी थी, न केवल असम्मानजनक, बल्कि निरर्थक और निष्फल भी थी। विश्व के इतिहास में ऐसी नीति भी कभी सफल नहीं हुई थी और न उससे प्रभावित होकर किसी शासक या शक्तिशाली वर्ग ने अपने अधिकारों का त्याग ही किया था। इसके विपरीत, इतिहास ने हमें सिखाया था कि गुलाम बनाये गये लोगों और देशों ने हिंसात्मक विद्रोह और विप्लव से ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त की है।

भारतवासियों के लिए सशस्त्र विद्रोह का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। हमारे पास न शस्त्र थे, न हममें से अधिकांश लोगों को शस्त्र चलाना ही आता था। इसके अलावा हिंसात्मक संघर्ष के लिए हम ब्रिटिश-सरकार के विरुद्ध चाहे कितनी भी शक्ति संग्रहीत क्यों न करते, उसके संगठित दल की बराबरी किसी तरह भी नहीं कर सकते थे। फौजें तो विद्रोह कर सकती थीं, किंतु निःशस्त्र जनता विद्रोह पर सशस्त्र शक्ति का सामना कैसे कर सकती थी ? इसके अलावा व्यक्तिगत रूप से आतंक फैलाना या बम और पिस्तौल से किसी अफ़सर को मारना मानों अपना दिवालियापन दिखाना था। वह जनता के आचार को भ्रष्ट करनेवाली बात थी और यह सोचना बिलकुल उपहासास्पद था कि उससे किसी शक्तिशाली और संगठित सरकार की जड़ हिलायी जा सकती थी, चाहे व्यक्तिगत रूप से उससे लोग कितने ही आतंकित क्यो न हो जाते।

अतः ये सब रास्ते बन्द थे और अपमानजनक दासता की उस असह्य अवस्था से कोई छुटकारा नहीं दिखाई देता था। जिन लोगों में थोड़ी बहुत भी भावुकता थी वे बड़े ही दुःखी और असहाय-से हो रहे थे। यही वह अवसर था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम लोगों के सामने रखा। इस कार्यक्रम ने हमें अपने पर भरोसा रखना और अपनी शक्ति बढ़ाना सिखाया और निस्संदेह वह सरकार पर दबाव डालने का एक बड़ा ही कारगर तरीका था। बहुत हद तक सरकार भारतवासियों के सहयोग पर ही निर्भर थी—चाहे यह सहयोग इच्छा से हो, चाहे अनिच्छा से—और यदि इस सहयोग को हटाकर सरकार का बहिष्कार किया जाता तो बहुत सम्भव था कि सैद्धांतिक रूप से उसकी सारी इमारत ही ढह जाती। यदि असहयोग से इतना न भी हो पाता तो इसमें तो संदेह ही नहीं था कि उससे सरकार पर बड़ा जबरदस्त दबाव पड़ सकता था और साथ ही जनता की शक्ति भी बढ़ सकती थी। इस आंदोलन की रूपरेखा पूर्ण रूप से शांतिपूर्ण थी, फिर भी वह केवल विरोधहीन नहीं था। वह अन्याय के विरोध का एक निश्चित किंतु अहिंसात्मक रूप था। वस्तुतः वह एक शांतिपूर्ण विद्रोह था, युद्ध का सभ्य-से-सभ्य तरीका था, फिर भी शासक संस्था के स्थायित्व के लिए खतरनाक था। जन-साधारण को क्रियाशील बनाने का वह एक बड़ा ही सफल साधन था और भारतीय जनता की विशेष प्रतिभा के बिलकुल अनुकूल प्रतीत होता था। उससे हमारा व्यवहार निर्मल बन गया और शत्रु बगलें झाँकने लगा। जिस भय ने हमें दबोच रखा था वह जाता रहा और हम निडर होकर लोगों की आँखों-से-आँखें मिलाने लगे, जैसा कि हमने पहले कभी नहीं किया था और अपने मन की बातें साफ-साफ और पूरी तरह से कहने लगे। ऐसा मालूम होता था जैसे हमारे दिमाग पर से एक बड़ा भारी बोझ उतर गया है। बोलने और कार्य कर सकने की इस नयी स्वतन्त्रता ने हममें विश्वास और बल भर दिया। इसके

अलावा बहुत हद तक इस शांतिपूर्ण युक्ति ने, उन भयंकर और कड़वी जातीय व राष्ट्रीय घृणाओं को बढ़ने से रोका, जो अबतक के ऐसे संघर्षों में सदा दिखाई देती रही थीं और इस प्रकार अन्तिम समझौते का मार्ग सरल बन गया।

इसलिए आश्चर्य नहीं कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने महात्मा गांधी के दिव्य व्यक्तित्व से आलोकित होकर देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसे आशा से भर दिया। यह आशा बढ़ी और उस के साथ-ही-साथ हमारा पुराना नैतिक पतन समाप्त हो गया। नयी कांग्रेस ने देश के अधिकांश महत्वपूर्ण तत्त्वों को अपनी ओर खींचा और दिन-पर-दिन उनकी शक्ति और मर्यादा बढ़ती गयी।

एक मुस्लिम सभा का अनुभव

१९२० में राजनैतिक और खिलाफत आंदोलन साथ-साथ चलते रहे। दोनों की एक दिशा थी और अन्त में जब कांग्रेस ने गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग को अपनाया तो दोनों एक में मिल गये। असहयोग के कार्यक्रम को पहले खिलाफत कमेटी ने ही अपनाया और उसके श्रीगणेश के लिए पहली अगस्त निश्चित की गयी।

उसी वर्ष कुछ पहले इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए इलाहाबाद में एक मुस्लिम सभा हुई थी (मैं समझता हूं कि वह मुस्लिम लीग की कौंसिल थी)। बैठक सैयद रजा अली के घर पर हुई। मौलाना मुहम्मदअली उस समय यूरोप में थे; किंतु मौलाना शौकतअली बैठक में मौजूद थे। मुझे उस बैठक की याद है, क्योंकि उससे मुझे पूरी-पूरी निराशा हुई थी। मौलाना शौकतअली में तो उत्साह था, किंतु करीब-करीब और सब लोग बड़े ही दुःखी और परेशान थे। उनमें असहमत होने का तो साहस ही नहीं था फिर भी यह साफ मालूम होता था कि वे कोई काम जल्दबाजी में नहीं करना चाहते। मैंने सोचा कि क्या ये ही वे लोग हैं जो क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व करेंगे और ब्रिटिश

साम्राज्य को चुनौती देंगे ? गांधीजी ने उनके बीच भाषण दिया और उनकी बातें सुनने के बाद सभा में भाग लेनेवाले पहले से भी अधिक भयभीत दिखाई देने लगे। अपने आदेशात्मक स्वर में गांधीजी खूब अच्छी तरह बोले। वह विनीत किंतु हीरे की तरह साफ और कठोर थे। उनकी बातें मीठी किंतु दृढ़ और हृदय के अन्तरतम से निकली हुई थीं। उनकी आंखें नम्र और गहरी थीं, फिर भी उनमें गजब की शक्ति और संकल्प की चमक थी।

उन्होंने चेतावनी दी कि यह लड़ाई एक अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु से लड़ी जानेवाली बहुत बड़ी लड़ाई होगी। अगर आप इसे लड़ना चाहते हैं तो आपको सब कुछ खोने और साथ ही कड़ी-से-कड़ी अहिंसा और अनुशासन का पालन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्होंने यह भी बताया कि जिस तरह युद्ध की घोषणा होने पर फौजी कानून जारी किया जाता है उसी तरह, यदि हम जीतना चाहते हैं, तो हमें भी अपनी अहिंसात्मक लड़ाई में तानाशाही और फौजी कानून का प्रयोग करना होगा। आपको इस बात का पूरा अधिकार है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर मांग लें और जब चाहें या जैसे चाहें मुझे दण्ड दें, किंतु जबतक आप मुझे अपना नेता बनाकर रखना चाहते हैं, आपको मेरी शर्तें माननी होंगी और तानाशाही तथा फौजी कानून के अनुशासन को स्वीकार करना होगा। किंतु वह तानाशाही सदा आपकी सद्भावना, आपकी स्वीकृति और आपके सहयोग पर निर्भर होगी। जैसे ही आप यह समझें कि आपको मेरी जरूरत नहीं रह गयी, आप मुझे निकाल फेंकें, मुझे पैरों तले कुचल दें, मैं रत्ती भर भी शिकायत नहीं करूँगा।

उन्होंने कुछ ऐसी ही बातें कहीं और बीच-बीच में जो सैनिक उपमाएं दीं व जिस दृढ़तापूर्ण सच्चाई से अपने विचार प्रकट किये उससे अधिकांश श्रोताओं के रोंगटे खड़े हो गये। किंतु शौकतअली वहां ढिलमिल लोगों को सम्हालने के लिए मौजूद थे और जब राय देने का समय

आया तो अधिकांश लोगों ने चुपचाप और शर्म से मुँह छिपाते हुए गांधीजी के युद्ध-प्रस्ताव का समर्थन किया।

कांग्रेस विधान में परिवर्तन

गांधीजी ने कांग्रेस में घुसते ही फौरन उसके विधान में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। उन्होंने उसे प्रजावादी और साधारण जनता की संस्था बना दिया। प्रजावादी तो वह पहले भी थी, किंतु अभीतक उसका मताधिकार सीमित था और वह उच्च वर्ग के लोगों तक ही परिमित थी। किंतु अब उसमें धड़ाधड़ किसान प्रवेश करने लगे और अपने नये रूप में वह एक महान ग्रामीण संस्था जैसी दिखाई देने लगी, जिसमें मध्यम वर्ग के लोगों की बहुलता थी। कांग्रेस का यह ग्रामीण रूप अभी और भी विकास पानेवाला था। उसमें औद्योगिक मजदूर भी आने लगे—अपनी पृथक् संगठित हैसियत में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप में।

अबतक कांग्रेस के सामने केवल दो ही विकल्प रहे थे—कोरी बातचीत करना और प्रस्ताव पास करना या फिर आतंककारी कार्रवाई करना। अब ये दोनों बातें हटा दी गयीं। आतंकवाद की तो विशेषरूप से निंदा की गयी और वह कांग्रेस की आधारभूत नीति के बिलकुल प्रतिकूल माना गया। कार्य की एक नयी प्रणाली निकाली गयी, जो थी तो पूर्णतः शांतिपूर्ण, किंतु जिसमें अन्याय के सामने सिर न झुकाने और फलतः उसमें निहित पीड़ा और कष्ट को स्वेच्छा से स्वीकार करने का आदेश था।

उपाधियों का त्याग

गांधीजी ने देखा कि ब्रिटिश राज्य मुख्यतः इन आधारों पर खड़ा है—भय, मर्यादा, जनता का इच्छित या अनिच्छित सहयोग और कुछ ऐसे लोग, जिनका स्वार्थ ब्रिटिश राज्य के साथ बंधा हुआ था। अतः उन्होंने इन्हीं जड़ों पर आघात करना आरंभ किया। उन्होंने कहा, "उपाधियों का बहिष्कार करो।" और गोकि बहुत ही कम उपाधि-

धारियों ने उनकी बात मानी, तो भी अंग्रेजों द्वारा दी जानेवाली उपाधियों पर से लोगों की आस्था हट गयी और वे अपमान के चिह्न माने जाने लगे। जीवन की सार्थकता के नये-नये मान स्थापित होने लगे और वाइसराय के दरबार और नरेशों की जो शान-शौकत लोगों को इतना प्रभावित करती थी, वह चारों ओर जनता की गरीबी और मुसीबतों से घिरी होने के कारण एकाएक बहुत ही हास्यास्पद, भद्दी और लज्जाजनक मालूम देने लगी। धनी लोगों में अब अपने धन का मिथ्या प्रदर्शन करने की उतनी उत्सुकता नहीं दिखाई देती थी और कम-से-कम दिखावे के लिए तो उन्होंने सरल जीवन को अपना लिया। पोशाक में तो वे साधारण जनता से प्रायः अभिन्न हो गये।

कांग्रेस के जो पुराने नेता एक बिलकुल और ही तरह की व ज्यादा आरामतलब परम्परा में पले थे, उन्होंने ये नयी बातें आसानी से नहीं अपनायीं और उन्हें जनता की भीड़ देखकर चिंता हुई। फिर भी सारे देश को अपने प्रवाह में बहा ले जानेवाली नयी विचारधारा की लहर इतनी तीव्र थी कि उसका कुछ प्रभाव उनपर भी पड़ा।

कांग्रेस पर प्रभाव

कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभुत्व था और वह एक विचित्र प्रकार का प्रभुत्व था, क्योंकि कांग्रेस एक क्रियाशील, विद्रोही और बहिर्मुखी संस्था थी, जिसमें जुदे-जुदे मत के लोग थे और जिसे इधर या उधर ले जाना आसान नहीं था। अक्सर गांधीजी दूसरों की इच्छाएं पूरी करने के लिए अपना आग्रह कम कर देते थे, और कभी-कभी तो प्रतिकूल निर्णय भी स्वीकार कर लेते थे। किसी-किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर वे टस-से-मस नहीं होते थे और अक्सर उनमें और कांग्रेस में मतभेद हो जाता था। फिर भी वे सदा भारत की स्वतंत्रता और संघर्षशील राष्ट्रीयता के प्रतीक थे और जो लोग मातृभूमि को गुलाम बनाये रखने की चेष्टा करते थे, उनके वे कट्टर विरोधी थे। इसी प्रतीक के रूप में जनता

दूसरी बातों में असहमत होते हुए भी उन्हें घेरे रहती थी और उनका नेतृत्व स्वीकार करती थी। जब कोई क्रियात्मक संघर्ष नहीं चलता होता था तब तो कभी-कभी लोग उनका नेतृत्व स्वीकार नहीं करते थे, किंतु जब संघर्ष अनिवार्य हो जाता था तब सबसे अधिक महत्ता उन्हें ही दी जाने लगती थी और अन्य बातें गौण बन जाती थीं।

जन-आंदोलन

किंतु गांधीजी ने भारत और भारतीय जनता को जो कुछ मुख्य रूप से दिया वह कांग्रेस के जरिये शक्तिशाली आंदोलन चलाकर ही दिया। देशव्यापी कार्रवाई द्वारा उन्होंने लाखों को नये सांचे में ढालना चाहा और उस कार्य में उन्हें बड़ी सफलता मिली। उन्होंने पतित, कायर और निराश जनता को, जिसे अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी प्रमुख दल पीड़ित और पद-दलित करते आये थे और जिनमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गयी थी, ऐसा बना दिया जिसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी, जिसे अपने पर भरोसा होने लगा, जो अत्याचार का विरोध करने लगी और जिसमें मिलकर काम करने तथा एक बड़े हित के लिए त्याग करने की सामर्थ्य आ गयी। उन्होंने उसे इस योग्य बना दिया कि वह राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार कर सके, यहांतक कि गाँव-गाँव और बाजार-बाजार में इन नयी विचारधाराओं और आशाओं की चर्चाएं होने लगीं। यह एक आश्चर्य-जनक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था। इसके लिए समय भी अनुकूल था और परिस्थितियों तथा विश्व की घटनाओं ने इस परिवर्तन को लाने में योग दिया। किंतु परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिए एक महान नेता की आवश्यकता होती है। वह नेता हमें गांधीजी के रूप में मिला, जिसने हमें उन अनेक बंधनों से मुक्त कर दिया जिन्होंने हमें जकड़ रखा था और हमारे मस्तिष्क को निरर्थक बना दिया था। भारतीय जनता के हृदय पर छा जानेवाली मुक्ति और हर्ष की उस महान् अनुभूति को हममें से जिन

लोगों ने भी महसूस किया—वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। गांधीजी ने भारत के उत्थान में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण क्रांतिकारी भाग लिया, क्योंकि उन्हें पराधीन परिस्थितियों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना आता था और वे जनता के हृदय को छू सकते थे। इसके विपरीत बहुत-से अधिक उन्नत विचारवाले दल यों ही लटकते रह गये, क्योंकि वे अपने को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बना सके और इसलिए जन-साधारण में ठोस सहयोग की भावना जाग्रत नहीं कर सके।

जनता का उत्थान

यह बिलकुल सत्य है कि राष्ट्रीय क्षेत्र के धरातल पर कार्य करते समय गांधीजी वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से कुछ नहीं सोचते, बल्कि वर्गीय मतभेदों को दूर करने का ही प्रयत्न करते थे। किंतु उन्होंने जो कुछ भी किया और जनता को जो सिखाया उससे सदा ही बड़ी जबरदस्त जन-जागृति हुई और सामाजिक समस्याओं को महत्ता मिली। इसके अलावा उन्होंने जरूरत पड़ने पर कुछ विशेष वर्गों को नुकसान पहुँचाकर भी जनता को ऊपर उठाने पर बार-बार जोर दिया, उससे राष्ट्रीय आंदोलन में जन-पक्ष में एक जबरदस्त परिवर्तन हुआ।

निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस साम्राज्यवाद के विरोध में एक संयुक्त मोर्चे का काम करती रही है।

गांधीजी और कांग्रेस का मूल्य उनके द्वारा अपनायी जानेवाली नीतियों और किये जानेवाले कार्य के आधार पर ही आंका जाना चाहिए। किंतु इसमें व्यक्तित्व काम करता है, इन नीतियों तथा कामों को अपने रंग में रंग देता है। जहांतक गांधीजी जैसे अत्यन्त विशिष्ट व्यक्ति का सवाल है, उन्हें समझने और उनका मूल्य आँकने के लिए व्यक्तित्व का प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। अंग्रेज पत्रकार श्री जार्ज स्लोकम्ब ने, जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले संसार भर के साधारण और असाधारण व्यक्तियों का अनुभव है, अपनी एक

पुस्तक में गांधीजी का उल्लेख किया है। वह प्रकरण रोचक और उद्धृत करने योग्य है। उसमें लिखा है—"इतना ज्यादा और ईमानदार सच्चा आदमी मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा। आत्म-प्रशंसा, अहंकार, अवसरवादिता और महत्त्वाकांक्षा की ओर इनका बहुत ही कम झुकाव है, यद्यपि यह बात अधिक या कम मात्रा में इस संसार के अन्य सभी महान् राजनैतिक व्यक्तियों में पायी जाती है।" हमें किसी अंग्रेज पत्रकार के मत से अधिक प्रभावित होने की जरूरत नहीं और न किसीके हृदय की सचाई के बल पर उसकी अशुद्ध नीति या भ्रमपूर्ण विचारों का ही समर्थन किया जा सकता है; किंतु स्थिति यह है कि यही मत भारत के लाखों व्यक्तियों का है। जो शब्द बिना सोचे-समझे सभी साधारण राजनीतिज्ञों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं, उन्हीं शब्दों में गांधीजी जैसे अनोखे और अद्वितीय व्यक्तित्व का उल्लेख करना एक बड़ी ही ऊपरी आलोचना है। हम भारतीयों का गांधीजी से अकसर मतभेद रहा है, अब भी कई बातों में हम उनसे सहमत नहीं होते और कभी-कभी पृथक् मार्ग भी ग्रहण कर लेते हैं, किंतु उनके साथ और उनकी अधीनता में रहकर एक महान् हित के लिए कार्य करना हमारे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य रहा है। हमारे लिए वह भारत की आत्मा और मर्यादा के प्रतीक रहे हैं, लाखों संतप्तों की अपने अनगिनत बोझों से मुक्त होने की लालसा की प्रतिमूर्ति रहे हैं और ब्रिटिश सरकार या किसी और के द्वारा उनका अपमान किया जाना मानों भारत और भारतीय जनता का अपमान रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि

गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी दिशा दिखायी जिससे हमारी निराशा और कटुता की भावनाएँ कम हो गयीं। वे भावनाएँ बिलकुल समाप्त तो नहीं हुईं, लेकिन मेरी जानकारी में ऐसा कोई दूसरा राष्ट्रीय आंदोलन नहीं जो घृणा से इतना मुक्त रहा हो जितना कि

हमारा राष्ट्रीय आंदोलन रहा है। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, पर साथ ही वह यह भी महसूस करते थे कि उन्हें भारत को नहीं, बल्कि सारे संसार को संदेश देना है। उन्हें विश्व-शांति की बड़ी उत्कट अभिलाषा थी। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता में एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण था। वह राष्ट्रीयता आक्रमणकारी लालसा से पूरी तरह से मुक्त थी। भारत की स्वतन्त्रता के आकांक्षी होने के कारण गांधीजी को यह विश्वास हो गया था कि एक-दूसरे पर निर्भर रहनेवाले राष्ट्रों का विश्व-संघ ही एक-मात्र सच्चा उद्देश्य है, चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो। उन्होंने कहा था—"राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि देश स्वतन्त्र हो जाय, लेकिन अगर जरूरत पड़े तो मानव-जाति को जीवित रखने के लिए वह सारा-का-सारा नष्ट हो जाय। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी ही होनी चाहिए।" और "मैं सारे विश्व के दृष्टिकोण से सोचना चाहता हूँ। मेरे देश-प्रेम में साधारण रूप से सारी मानव-जाति का हित सम्मिलित है। इसलिए भारत के प्रति मेरी सेवा में मानवजाति की सेवा शामिल है।...विश्व-राज्यों का लक्ष्य पृथक् स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि स्वेच्छित अन्तर्निर्भरता है। संसार के उन्नत विचारवाले लोग आज एक-दूसरे से लड़नेवाले पूर्णतः स्वतन्त्र राष्ट्रों की इच्छा नहीं रखते, बल्कि मित्रतापूर्ण और एक-दूसरे पर निर्भर राज्यों का संघ चाहते हैं। हो सकता है कि इस आकांक्षा की पूर्ति अभी दूर हो। मैं अपने देश के लिए कोई बहुत बड़ा दावा नहीं करना चाहता, किंतु स्वतंत्रता के बदले अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्निर्भरता का समर्थन करना मेरी समझ में कोई बड़ा अथवा असम्भव कार्य नहीं। मैं चाहता हूँ कि हममें पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होने की योग्यता तो हो, लेकिन उसकी डींग हाँकने की नहीं।"

: ३ :

असहयोग आन्दोलन

सन् १९२१ का साल बड़ी ही तनातनी का साल था और अफसरों को क्रोधित, परेशान और विचलित करने की बहुत-सी बातें हुईं। जो कुछ हो रहा था वह तो बुरा था ही, पर जो कुछ सोचा जा रहा था वह उससे भी बुरा था। मुझे एक उदाहरण याद है जिससे इस मानसिक उपद्रव का प्रमाण मिलता है। मेरी बहन स्वरूप की शादी के लिए १० मई, १९२१ की तारीख तै की गयी थी। वह शादी इलाहाबाद में होनेवाली थी, और जैसा कि ऐसे अवसरों पर हुआ करता है, उसकी ठीक-ठीक तारीख पंचांग से हिसाब लगाकर निश्चित की गयी थी और दिन भी शुभ छाँटा गया था। गांधीजी और बहुत-से दूसरे प्रमुख कांग्रेसी, जिनमें अली-बन्धु भी शामिल थे, इस अवसर पर आमन्त्रित किये गये थे और उनकी सुविधा के लिए, उन्हीं दिनों कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक भी इलाहाबाद में बुला ली गयी थी। स्थानीय कांग्रेसियों ने बाहर से आनेवाले प्रसिद्ध नेताओं की उपस्थिति से लाभ उठाना चाहा और बड़े पैमाने पर जिला कांग्रेस का एक आयोजन किया। उन्हें आशा थी कि आसपास के किसान उसमें भाग लेने के लिए बहुत बड़ी संख्या में आयेंगे।

इन राजनैतिक सभाओं की वजह से इलाहाबाद में बड़ी चहल-पहल और उत्तेजना फैली हुई थी। कुछ लोगों के दिमाग पर तो इसका

उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। एक दिन मुझे अपने एक बैरिस्टर मित्र से पता चला कि अंग्रेज लोग बिलकुल घबरा गये हैं और वे शहर में एक आकस्मिक उपद्रव की आशंका कर रहे हैं। उन्हें अपने भारतीय नौकरों पर विश्वास नहीं होता था और वे अपनी जेबों में रिवाल्वर लिये फिरते थे। प्राइवेट तौर पर तो यहाँ तक कहा जाता था कि इलाहाबाद के किले को इस बात के लिए तैयार रखा गया है कि जरूरत पड़ने पर अंग्रेज लोग भागकर वहाँ चले जायें। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ और मैं समझ नहीं सका कि किसीको इलाहाबाद जैसे सुप्त और शांत शहर में एकाएक उपद्रव की सम्भावना की कल्पना क्यों हुई और वह भी एक ऐसे समय में जबकि अहिंसा का देवदूत ही वहाँ आनेवाला था। कहा जाता था कि १० मई—जो कि संयोगवश मेरी बहन की शादी के लिए तै हुई थी—सन् १८५७ में मेरठ में आरम्भ हुए गदर की वार्षिक तिथि है और वह इलाहाबाद में मनायी जायगी।

हमारे बड़े आंदोलन में सभी तरह के लोग थे और जबतक हमारे कार्य की मुख्य दिशा ठीक थी तबतक छोटी-मोटी विपरीत धाराओं से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं था। जहाँतक स्वयं गांधीजी का प्रश्न है, उन्हें समझना बड़ा कठिन था। कभी-कभी उनकी भाषा आजकल के एक साधारण व्यक्ति के लिए प्रायः पूर्णतः अग्राह्य होती थी, किंतु हम यह अनुभव करते थे कि हम उन्हें इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि इस बात को समझ सकते हैं कि वह एक महान् व निराले पुरुष व कीर्तिमान् नेता हैं। इस प्रकार गांधीजी पर विश्वास कर हमने अपनी ओर से उन्हें, कम-से-कम उस समय के लिए सफेद-स्याह करने का पूरा अधिकार दिया था। अक्सर हम उनकी झक और विचित्रताओं पर आपस में बहस किया करते थे, और हँसी-हँसी में कहा करते थे कि स्वराज्य मिलने पर उनकी इन झकों को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए।

एक अद्वितीय वर्ष

सन् १६२१ हमारे लिए एक अद्वितीय साल था। राष्ट्रीयता के साथ राजनीति का और धर्म के साथ रहस्यवाद और धार्मिक उन्माद का एक विचित्र मेल चल रहा था। इन सबकी जड़ में गाँवों की अशान्ति और बड़े शहरों में निद्रित अवस्था से जागते हुए मजदूरों का आंदोलन था। राष्ट्रीयता और सारे देश में फैली हुई एक अनिश्चित किंतु तीव्र आदर्शवाद की लहर इन भिन्न-भिन्न और कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी, असन्तुष्ट तत्त्वों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न कर रही थी और इसमें उसे जबरदस्त कामयाबी भी हासिल हुई। इतने पर भी वह राष्ट्रीयता स्वयं एक मिश्रित प्रेरणा थी और उसमें तीन तरह की राष्ट्रीय धाराएँ साफ-साफ बहती दिखाई दे रही थीं—एक हिंदू राष्ट्रीयता, दूसरी मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसकी दृष्टि कुछ हद तक भारतीय सीमाओं के उस पार लगी हुई थी और तीसरी भारतीय राष्ट्रीयता, जो उस समय की विचारधारा के अधिक अनुकूल थी। कुछ समय के लिए तो वे सब एक दूसरे में मिल गयी थीं और साथ-साथ जोर लगा रही थीं। सब जगह 'हिंदू-मुसलमान की जय' सुनाई देती थी। यह एक अद्भुत बात थी कि गांधीजी ने मानों सभी श्रेणियों के और समूहों के लोगों पर एक मंत्र-सा फूंक दिया था और उन्हें एक ही दिशा में आगे बढ़ने के लिए संघर्ष करती हुई एक सामूहिक भीड़ में ला खड़ा किया था।

निश्चय ही यह गांधीजी के बराबर अहिंसा पर जोर देने के कारण थी। इसकी एक दूसरी वजह मुक्ति और शक्ति की वह भावना भी थी जो असहयोग आंदोलन के आरम्भ होने से सारे देश में आ गयी थी। उस के साथ ही निकट भविष्य में ही उसके सफल होने का व्यापक विश्वास भी था। हम सोचते थे कि जब हमें इतनी सफलता मिल रही है और जल्दी ही विजयी होने की आशा है तो क्रोध क्यों करें और अपने हृदय में घृणा को स्थान क्यों दें? हमने यह अनुभव किया कि हम दयालुता

दिखला सकते हैं। इतनी दयालुता हमारे हृदय में उन इने-गिने अपने ही भाई-बंधुओं के लिए नहीं थी जो हमारे विपक्ष में थे और राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करते थे, यद्यपि उनके प्रति भी हमारा काम साव-धानीपूर्ण और उचित ही था।

इस प्रकार हम अपने कार्य के उत्साह में भरकर अनिश्चित ढंग से किंतु दृढ़तापूर्वक चलते रहे, पर हमारे लक्ष्य के संबन्ध में कोई भी स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। अधिकांश नवयुवकों के लिए स्वराज्य का अर्थ था राजनैतिक स्वतन्त्रता (या कुछ ऐसी ही चीज़) और जनतन्त्रीय शासन-प्रणाली। यह बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा भी करते थे। हममें से बहुत-से लोग तो यहां तक सोचते थे कि इससे मज़दूरों और किसानों पर से यह बोझ अवश्य उतर जायगा जिसके नीचे आज वे दबे हुए हैं। किंतु यह स्पष्ट था कि अधिकांश नेताओं की दृष्टि में स्वराज्य का अर्थ स्वतन्त्रता से बहुत कम था। इस विषय में गांधीजी के विचार भी कुछ अजीब अनिश्चित-से थे और वे इस दिशा में स्पष्ट चिंतन को प्रोत्साहन भी नहीं देते थे। फिर भी वह सदा पद-दलितों की ओर से—अनिश्चित रूप से, किंतु दृढ़तापूर्वक—बोला करते थे जिससे हममें से बहुतों को बड़ा संतोष होता था। लेकिन गांधीजी सदा उच्च श्रेणी के लोगों को भी आश्वासन दिया करते थे। वह कभी किसी समस्या पर बौद्धिक दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता पर जोर नहीं देते थे, बल्कि सदा चरित्र और पवित्रता की महिमा गाया करते थे। भारतीय जनता की रीढ़ की हड्डी को शक्ति प्रदान करने और उसे चरित्रवान् बनाने में उन्हें निस्संदेह भारी सफलता मिली।

जनता में इस आश्चर्यजनक उत्थान ने ही हममें विश्वास की भावना भरी। भ्रष्ट, पिछड़ी हुई और निराश जनता ने एकाएक अपनी पीठ सीधी की, अपना सिर ऊपर उठाया और वह एक देशव्यापी अनुशासित तथा संयुक्त आंदोलन में भाग लेने लगी। हमें ऐसा लगा कि अकेला

यही काम जनता में अबाध शक्ति भर देगा। हमने इस बात की चिंता नहीं की कि कार्य के पीछे विचारशक्ति भी होनी चाहिए। हम यह भूल गये कि चेतनापूर्ण विचारधारा और लक्ष्य के बिना जनता की शक्ति और उत्साह का अंत में अधिकतः ह्रास हो जाता है। कुछ सीमा तक हम अपने आंदोलन की सजीव भावना के सहारे चलते रहे। हममें यह धारणा बंध गयी कि राजनैतिक या आर्थिक आंदोलनों को चलाने या अन्याय दूर करने के लिए अहिंसा की जो कल्पना की गयी है उसमें एक नया संदेश है, जिसे संसार के कोने-कोने तक पहुँचाने का सौभाग्य हमारी जनता को मिलता है। सभी लोगों और सभी राष्ट्रों में यह जो विचित्र भ्रम होता है कि वे किसी-न-किसी रूप में इस संसार के चुने हुए व्यक्ति हैं, उसी भ्रम के हम भी शिकार बन गये।

गांधीजी की पहली गिरफ्तारी

अनुमान किया जाता है कि असहयोग आंदोलन के सिलसिले में सन् १९२१ के दिसम्बर और १९२२ के जनवरी महीनों में लगभग ३० हजार भारतवासी गिरफ्तार किये गये। किंतु यद्यपि अधिकांश प्रमुख नेता और कार्यकर्ता जेल में थे, सारे संघर्ष के नेता महात्मा गांधी अभी बाहर ही थे और दिन-प्रति-दिन संदेश तथा निर्देश देकर न केवल जनता को प्रेरित करते रहते थे, बल्कि उनके अनेक अनुचित कार्यों को रोकते भी रहते थे। सरकार ने अभी तक उन्हें स्पर्श नहीं किया था, क्योंकि उसे इस बात का भय था कि पता नहीं इसका क्या परिणाम होगा और भारतीय फौज व पुलिस में इसकी कैसी प्रतिक्रिया होगी।

फरवरी १९२२ के आरंभ में एकाएक सारा दृश्य बदल गया और हमने जेल में आश्चर्य और व्याकुलता के साथ सुना कि गांधीजी ने आंदोलन की आक्रमणकारी क्रियाएं बंद करवा दी हैं और सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित कर दिया है। हमने अखबारों में पढ़ा कि यह बात चौरी-चौरा गाँव के निकट घटी एक घटना के कारण की गयी है, जहाँ कि

गाँववालों की एक भीड़ ने पुलिस से बदला लेने के लिए थाने में आग लगा दी थी और उसमें लगभग आधे दर्जन पुलिसमैनों को जला दिया था।

एक ऐसे समय में, जबकि हम अपना पैर जमाते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, संघर्ष के इस तरह बंद किये जाने का समाचार पढ़कर हमें क्रोध आया। किंतु जेल में पड़े-पड़े हमारी निराशा और हमारे क्रोध से किसीको लाभ नहीं पहुँच सकता था। सत्याग्रह बंद हो गया और असहयोग भी समाप्त हो गया। कई महीनों के तनाव और चिंता के बाद सरकार ने फिर आराम की साँस ली और उसे पहली बार कदम बढ़ाने का अवसर मिला। कुछ ही हफ्तों बाद गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक लंबे अर्से के लिए जेल में डाल दिया गया।

मैं समझता हूँ कि चौरीचौरा की घटना के बाद इस आंदोलन का इस प्रकार एकाएक स्थगित किया जाना गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के प्रायः सभी प्रमुख नेताओं को बुरा लगा। मेरे पिता (जो उस समय जेल में थे) इससे बहुत ही विचलित हुए। नवयुवक लोग तो स्वभावतः और भी व्यग्र हुए। हमारी बढ़ती हुई आशाएँ एकाएक भंग हो गयीं। यह मानसिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। इससे भी अधिक दुःख हमें आंदोलन को स्थगित करने के लिए बताये गये कारणों और उनके फल-स्वरूप होनेवाले परिणामों पर हुआ। संभव है कि चौरीचौरा की घटना निंदनीय रही हो, जैसी कि वह वस्तुतः थी, यह भी ठीक है कि वह घटना हमारे अहिंसात्मक आंदोलन के सिद्धांत के विरुद्ध थी, किंतु क्या हमारे राष्ट्र का स्वतन्त्रता-संग्राम एक दूर के गाँव और एक अनजान स्थान के उत्तेजित किसानों की भीड़ के कारण बन्द होनेवाला था? यदि एक आकस्मिक हिंसात्मक घटना का अनिवार्य परिणाम ऐसा होना था तो निश्चय ही अहिंसात्मक संग्राम के दर्शन और कला में कोई कमी थी, क्योंकि हमें ऐसा लगता था कि इस प्रकार की अनुचित घटनाओं की

पुनरावृत्ति न होने देने की गारंटी करना असंभव है। तो क्या हमारे लिए यह आवश्यक था कि आगे बढ़ने से पहले हम अपने देश के तीस करोड़ निवासियों को अहिंसा के सिद्धांत और अभ्यास की शिक्षा दें? और इतना होते हुए भी हममें से कितने आदमी यह कह सकते थे कि पुलिस द्वारा अतिशय उत्तेजित किये जाने पर भी वे पूरी तरह से शांत रह सकेंगे? और यदि हमें सफलता मिल भी जाती तो हम उत्तेजना फैलाने वाले उन एजेन्टों आदि के लिए क्या करते जो हमारे आंदोलन में घुस आये थे और या तो स्वयं हिंसात्मक कार्रवाइयाँ किया करते थे या दूसरों को ऐसा करने के लिए उकसाते थे? यदि अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली की एकमात्र शर्त यही है, तो इसमें संदेह नहीं कि वह सदा अस-फल रहेगी।

अहिंसा की प्रणाली

अहिंसा हमारे लिए और संपूर्ण रूप से कांग्रेस के लिए कोई धर्म या कोई निर्विवाद मत या सिद्धांत नहीं थी और न हो सकती थी। वह हमारे लिए एक नीति, एक तरीका भर हो सकती थी, जिससे हम कुछ परिणामों की आशा रख सकते थे। इन्हीं परिणामों की कसौटी पर उसे अंतिम रूप से कसना भी होगा। अलग-अलग लोग इसे धर्म या अवि-वादित मत का रूप दे सकते हैं, किंतु कोई भी राजनैतिक संस्था, जब तक कि उसका रूप राजनैतिक रहता है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा की घटना और उसके परिणामों ने हमें अहिंसा पर एक प्रणाली के रूप में सोचने के लिए विवश किया और हमने महसूस किया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने के लिए गांधीजी ने जो तर्क किया है वह अगर ठीक है तो हमारे विरोधियों के हाथ में सदा ऐसी स्थिति उत्पन्न करने की शक्ति बनी रहेगी जिससे कि वे हमें अपने संघर्ष को स्थगित करने के लिए बाध्य कर सकें।

मैं हड़ताल के लिए पर्चे बाँटने के अपराध में गिरफ्तार किया गया

था। उस समय यह कोई कानूनी ग्रपराध नहीं था। मुझे कैद की सजा मिली। तीन महीने बाद जेल में, जहां मेरे पिताजी श्रौर दूसरे लोग भी थे, मुझे बताया गया कि मेरे दण्ड पर पुनः विचार करनेवाला कोई ग्रधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मैं गलती से गिरफ्तार कर लिया गया था, ग्रतः छोड़ दिया जाऊँगा। इसपर मुझे ग्राश्चर्य हुग्रा, क्योंकि मेरी श्रोर से किसी ने कोई पैरवी नहीं की थी। साफ मालूम होता था कि सविनय ग्रवज्ञा श्रांदोलन के स्थगित होने से जज लोग एकाएक क्रियाशील हो उठे हैं। ग्रपने पिताजी को वहीं जेल में छोड़कर जाने में मुझे बड़ा दुःख हुग्रा।

मैंने फौरन ही गांधीजी के पास ग्रहमदाबाद जाने का निश्चय किया, किंतु मेरे वहाँ पहुँचने से पहले ही वे गिरफ्तार कर लिये गये थे श्रौर मेरी उनकी मुलाकात साबरमती जेल में हुई। जिस समय उनपर मुकदमा चल रहा था, मैं भी वहाँ मौजूद था। वह एक स्मरणीय ग्रवसर था श्रौर हममें से जो लोग वहाँ उपस्थित थे वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। जज ने, जो कि एक ग्रंग्रेज था, बड़ी मर्यादा श्रौर सहानुभूति के साथ व्यवहार किया। गांधीजी ने ग्रदालत में जो बयान दिया उसने सबको हिला दिया श्रौर जब हम वहाँ से लौटे तो हमारे हृदय का एक-एक तार कंपित हो रहा था। हमारे कानों में उनके स्पष्ट श्रौर सजीव शब्द गूंज रहे थे श्रौर हमारी ग्राँखों के सामने वहाँ के दृश्य के ग्रनेक उल्लेखनीय चित्र नाच रहे थे।

बीमारी श्रौर रिहाई

सन् १९२४ के ग्रारम्भ में एकाएक खबर मिली कि गांधीजी जेल में सख्त बीमार हो गये हैं। बाद में मालूम हुग्रा कि वह ग्रस्पताल भेज दिये गये हैं श्रौर वहाँ उनका ग्रॉपरेशन हुग्रा है। सारा भारत चिंता में डूब गया श्रौर हम भयभीत-से सांस रोके प्रतीक्षा करते रहे। ग्रंत में संकट टल गया श्रौर देश के कोने-कोने से लोग गांधीजी को देखने के

लिए पूना की ओर टूट पड़े। उस समय भी वह अस्पताल में ही थे और उनपर पहरा बैठा हुआ था, किंतु उन्हें थोड़े-बहुत मित्रों से मिलने की अनुमति मिल गयी थी। पिताजी ने और मैंने उनसे वहीं अस्पताल में भेंट की।

अस्पताल से वह जेल वापस नहीं भेजे गये। अभी वह अच्छे हो ही रहे थे कि सरकार ने उनकी कैद की बची हुई मियाद रद्द कर दी और वह रिहा कर दिये गये। उस समय तक वह छः वर्ष में से लगभग दो वर्ष की सजा काट चुके थे। स्वास्थ्य-लाभ के लिए वह बंबई के पास समुद्र किनारे पर जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा धमका और वहाँ हम समुद्र के किनारे एक छोटे-से तम्बू में जम गये। वहाँ कई सप्ताह तक रहे और एक लम्बे अर्से के वाद मनमाने ढंग से छुट्टी मनाने का अवसर मिला, क्योंकि वहाँ मैं समुद्र में तैर सकता था और तट पर दौड़ सकता था तथा सवारी कर सकता था। किंतु हमारे वहाँ ठहरने का मुख्य अभिप्राय छुट्टी मनाना नहीं, बल्कि गांधीजी से विचार-विनिमय करना था। पिताजी ने उन्हें स्वराज्य पार्टी का दृष्टिकोण समझाना चाहा और उसके लिए अगर उन की सक्रिय सहानुभूति नहीं तो कम-से-कम विरोधहीन सहयोग अवश्य प्राप्त करना चाहा। मैं भी अपने को परेशान करनेवाली कुछ समस्याओं पर प्रकाश डलवाने के लिए चिंतित था। मैं यह जानना चाहता था कि गांधीजी का भावी कार्यक्रम क्या होगा।

जुहू की वार्ता गांधीजी को स्वराज्यवादियों के पक्ष में खींचने या उन्हें उस दिशा में कणमात्र भी आकर्षित करने में सफल न हो सकी। मैत्री-पूर्ण वार्ता और भद्रतापूर्ण सद्भावना-प्रदर्शन के बाद भी असलियत यही रही कि समझौता नहीं हो सकी। उनमें मतभेद बना रहा और इस संबंध में समाचार पत्रों में वक्तव्य भी प्रकाशित करा दिये गये।

जुहू से मैं भी कुछ निराश होकर लौटा, क्योंकि गांधीजी ने मेरी

एक भी शंका का समाधान नहीं किया। जैसा कि वह साधारणतः किया करते हैं, उन्होंने भविष्य की चिंता करने या कोई दूरस्थ कार्यक्रम बनाने से इन्कार कर दिया।

+ + +

गांधीजी जबसे भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अवतरित हुए, जनता की दृष्टि में उनकी लोकप्रियता कभी घटी नहीं। इसके विपरीत वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही रही है। किंतु पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती थी। आगे बढ़ने का उत्साह जागने पर वह उनके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं, किंतु जब इस उत्साह की अनिवार्य प्रतिक्रिया होती है तो वे टीका-टिप्पणी करने लगते हैं। इतने पर भी उनमें से अधिकांश लोग उनके आगे सिर झुकाते हैं। इसका एक कारण यह है कि उनके सामने कोई दूसरा कारगर कार्यक्रम नहीं है।

दिसम्बर, १९२४ में कांग्रेस का अधिवेशन बेलगांव में हुआ, जिसके अध्यक्ष गांधीजी थे। गांधीजी का कांग्रेस का अध्यक्ष बनना एक प्रकार से उच्चतम स्वर पर पहुँचकर नीचे उतरना था, क्योंकि वह तो स्थायी रूप से उसके महाध्यक्ष थे।

: ४ :

सविनय अवज्ञा आन्दोलन–१

कुछ वर्षों के लिए खादी का प्रचार ही गांधीजी का मुख्य कार्य रहा था और इस उद्देश्य से उन्होंने सारे देश में दूर-दूर तक दौरा किया था। उन्होंने हर प्रांत को एक-एक करके लिया था और वह हर जिले के हर शहर और दूर-दूर के देहातों तक में गये थे। सब जगह उन्हें देखने और सुनने के लिए विशाल जन-समुदाय उमड़ पड़ता था और उनके कार्यक्रम को पूरा करने के लिए कार्यकर्ताओं को पहले से ही बहुत काम करना पड़ता था। गांधीजी रेल और मोटर से भ्रमण किया करते थे, किंतु उनकी यात्रा इन्हीं तक सीमित नहीं थी। वह पैदल भी चला करते थे। इस रीति से उन्होंने भारत और भारतीय जनता के संबंध में अनोखा ज्ञान प्राप्त कर लिया और इसी रीति से भारत के करोड़ों लोग उनसे मिले और उनके संपर्क में आये।

खादी-यात्रा

सन् १९२९ में गांधीजी अपनी खादी-यात्रा पर युक्तप्रांत आये और साल के उस सबसे गरम मौसम में वहाँ कई हफ्ते ठहरे। थोड़े-थोड़े दिनों के लिए मैं उनके साथ कई बार रहा और यद्यपि मेरे लिए यह कोई नया अनुभव नहीं था तथापि मैं उन बड़ी-बड़ी भीड़ों को देखकर चकित रह जाता था जो उन्हें सुनने के लिए सब जगह उमड़ पड़ती थी। यह बात विशेषरूप से गोरखपुर आदि पूर्वी जिलों में दिखाई देती थी, जहाँ विशाल जनसमूहों को देखकर टिड्डी-दल का स्मरण हो आता

था। देहातों में मोटर से जाते समय हमें रास्ते में हर पाँच मील पर दस से लेकर पच्चीस हजार आदमियों तक की भीड़ मिलती थी और उस दिन की मुख्य सभा में तो उनकी गिनती लाख से भी ऊपर चली जाती थी। उन दिनों लाउडस्पीकरों की सुविधा नहीं थी, सिवा इसके कि कभी-कभी किसी बड़े शहर में इनका प्रबंध हो जाता था। इसलिए इतनी बड़ी-बड़ी भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति के पास तक आवाज का पहुँचना बिलकुल असंभव था। शायद जनता कुछ सुनने की आशा भी नहीं रखती थी; वह महात्माजी को देखकर ही संतुष्ट हो जाती थी। अक्सर गांधीजी बहुत ही संक्षेप में बोला करते थे और अपने को अनावश्यक श्रम से बचाते थे, नहीं तो हर दिन और हर घंटे इस तरह काम करना कैसे सम्भव हो सकता था ?

मैं गांधीजी के साथ सब जगह नहीं गया, क्योंकि न तो मैं उनके कुछ विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता था और न उनके साथ चलनेवाले लोगों की संख्या को बढ़ाने में ही कोई तथ्य था। वैसे मैं भीड़ से घबराता नहीं था, लेकिन कोई ऐसी बात नहीं थी जिसके लिए मैं अपने को धक्कम-धक्का में फँसाता और अपने पैरों को कुचलवाता जैसा कि गांधीजी के साथ चलनेवाले लोगों के भाग्य में बदा होता है। मुझे बहुत-सा दूसरा काम भी करना था और मैं अपने को खादी-प्रचार के ही काम तक सीमित नहीं रखना चाहता था, क्योंकि देश की बढ़ती हुई राजनैतिक स्थिति को देखते हुए वह अपेक्षाकृत गौण मालूम पड़ता था। कुछ हद तक मुझे गांधीजी का अपने को अराजनैतिक समस्याओं में उलझाये रखना बुरा मालूम देता था और मैं उनके विचारों की पृष्ठभूमि को कभी नहीं समझ पाता था।

स्वतंत्रता-दिवस

२६ जनवरी, १९३० को स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया और उसने बिजली की चमक की तरह हमें देश की सचाई और उत्साहपूर्ण मनः-

स्थिति का दर्शन करा दिया। जगह-जगह बड़ी-बड़ी भीड़ों का जमा होना और उनमें भाषण या जनता के उद्बोधन के बजाय शांत और सौम्यता के साथ स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा का लिया जाना—यह सब अधिक प्रभावोत्पादक था। इससे गांधीजी को आवश्यक प्रोत्साहन मिला और उन्होंने जनता की नब्ज पर हाथ रखने की अपनी चतुरता से समझ लिया कि अब काम करने का समय आ गया है।

जैसे-जैसे सविनय अवज्ञा के दिन पास आते गये और वातावरण में एक बिजली-सी व्याप्त होती गयी, वैसे-वैसे हमारा ध्यान सन् १९२१-२२ के आंदोलन और चौरीचौरा की घटना के बाद उसके सहसा स्थगित होने की ओर जाता रहा। देशवासी अब पहले से अधिक अनुशासन सीख गये थे और संघर्ष की रूपरेखा को अधिक स्पष्ट रूप से समझने लगे थे। उसकी कला भी अब कुछ-कुछ समझ में आने लगी थी, किंतु गांधीजी के दृष्टिकोण से इससे भी बड़ी बात यह थी कि हर आदमी पूरी तरह से समझ गया था कि अहिंसा के लिए गांधीजी के हृदय में एक जबर्दस्त सचाई और लगन है। इस संबंध में अब किसी को संदेह नहीं रह गया जैसा कि दस साल पहले कुछ लोगों को था; इतने पर भी हमें यह निश्चय कैसे हो सकता था कि कहीं एकाएक या किसी षड्यंत्र के फलस्वरूप हिंसा नहीं फूट पड़ेगी? और यदि ऐसी कोई घटना हुई तो उसका हमारे आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या पहले की तरह वह इस बार भी सहसा बंद कर दिया जायगा? यह संभावना सबसे ज्यादा घबराहट पैदा कर रही थी।

गांधीजी ने शायद इस प्रश्न पर भी अपने ढंग से विचार कर लिया था; लेकिन जिस समस्या से उन्हें परेशानी थी—जैसा कि मैं उनसे इधर-उधर की बातों में समझ पाया था—उसे उन्होंने कुछ और ही रूप में रखा। उनकी समझ में देश की स्थिति को सुधारने का एकमात्र ठीक तरीका अहिंसा का तरीका था और यदि उसका उचित रूप से

पालन किया जाय तो वह एक अचूक तरीका था।

अब जो बड़ा सवाल हमारे सामने रह गया था, वह था आरम्भ कैसे किया जाय ? सविनय अवज्ञा को किस रूप में ग्रहण किया जाय कि वह कारगर, परिस्थितियों के अनुकूल और जनता को प्रिय सिद्ध हो और तब महात्माजी ने संकेत किया। एकाएक नमक एक रहस्यपूर्ण, एक बलवान शब्द बन गया। नमक-कर पर आघात करने और नमक-कानून तोड़ने का निश्चय किया गया। इससे हम चकित रह गये और एक राष्ट्रीय आंदोलन का साधारण नमक से ठीक-ठीक मेल नहीं बैठा सके।

डांडी-यात्रा

इसके बाद गांधीजी की वाइसराय से लिखा-पढ़ी हुई और नमक का कानून भंग करने के लिए साबरमती-आश्रम से डांडी की तरफ कूच आरम्भ हुआ। जैसे-जैसे आगे बढ़ते हुए इस यात्री-दल के रोज-रोज के समाचार आते रहे, वैसे-वैसे देश में उत्तेजना फैलती गयी। संघर्ष अब बिलकुल समीप आ गया था और उसका अन्तिम प्रबंध करने के लिए अहमदाबाद में कांग्रेस-महासमिति की एक बैठक की गयी। संघर्ष का नेता उसमें मौजूद नहीं था, क्योंकि उस समय वह यात्रियों के एक जत्थे के साथ समुद्र की ओर बढ़ रहा था।

अन्तिम तैयारी करने के बाद कांग्रेस-महासमिति के सदस्यों ने अहमदाबाद में एक-दूसरे से अलविदा की, क्योंकि किसीको पता नहीं था कि आगे हम कब और कैसे मिलेंगे और कभी मिलेंगे भी या नहीं। कांग्रेस महासमिति के नये निर्देशों के अनुसार स्थानीय तैयारियों को अन्तिम रूप देने के लिए और, जैसा कि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के निमित्त अपने दांत साफ करने के ब्रुशों को तैयार रखने के लिए हम जल्दी-जल्दी अपने-अपने ठिकानों को भागे।

लौटते समय मैं और पिताजी गांधीजी से मिलने गये। उस समय

वह अपने जत्थे के साथ जम्बूसर में थे। वहां हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे, जिसके बाद वह दलबल-सहित खारे समुद्र की यात्रा के अगले पड़ाव की ओर चल दिये। उस रूप में मेरे लिए उनकी वह अन्तिम झलक थी—हाथ में डंडा लिये वह अपने अनुयायियों के आगे-आगे मजबूत कदम और शांतिपूर्ण किंतु निश्चल दृष्टि से चल रहे थे। निश्चय ही वह हृदय को हिला देनेवाला दृश्य था।

सन् १९१९ की घटनाओं की याद में हर साल (सत्याग्रह-दिवस से जलियाँवाला बाग दिवस तक का) जो राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है, उसकी पहली तारीख ६ अप्रैल थी। उसी दिन गांधीजी ने डांडी के समुद्र-तट पर नमक-कानून को भंग करना आरम्भ किया और तीन या चार दिन बाद सभी कांग्रेसी संस्थाओं को ऐसा करने और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय अवज्ञा आरम्भ करने की अनुमति दे दी गयी।

ऐसा मालूम होता था मानों सहसा वसन्त छा गया। देश के शहर-शहर और गाँव-गाँव में नमक बनाने की चर्चा थी और नमक तैयार करने के लिए बड़े-बड़े विचित्र तरीके काम में लाये जा रहे थे। इस सम्बन्ध में हम जानते तो बहुत कम थे, इसलिए जहाँ से सम्भव होता था, वहीं से कुछ पढ़-पढ़ाकर, पर्चे बाँट-बाँटकर हिदायतें देते थे। हम बर्तन और कड़ाहे इकट्ठा करते थे और अन्त में थोड़ा-बहुत नमक तैयार कर ही लेते थे। उसीको हम विजय के उन्माद में उठाये फिरते थे और ऊँचे-ऊँचे दामों पर नीलाम कर देते थे। चीज अच्छी तैयार होती या बुरी, इसका कोई सवाल नहीं था। असली काम मनहूस नमक-कर को तोड़ना था और इस कार्य में हमें सफलता मिली, चाहे हमारे द्वारा तैयार किया गया नमक निम्न कोटि का ही क्यों न था। जब हमने देखा कि जनता में अगाध उत्साह है और नमक बनाने का काम घास की आग की तरह फैलता जा रहा है तो हमें इस बात पर लज्जा आयी कि जब गांधीजी ने पहले-पहल नमक बनाकर नमक-कानून को भंग करने का

प्रस्ताव रखा था तो हमने उनकी कार्य-क्षमता पर शंका प्रकट की थी। आज हम उनके जनता को प्रभावित करने और उससे संगठित रूप से काम कराने के आश्चर्यजनक कौशल को देखकर स्तम्भित रह गये।

सन् १९३० का वह साल नाटकीय स्थितियों और जोश दिलानेवाली घटनाओं से भरा हुआ था। हमें सबसे अधिक आश्चर्य गांधीजी की समस्त जनता में प्रेरणा और उत्साह भरने की विस्मयकारी शक्ति पर हुआ। उनमें मानों एक मोहिनी थी और हमें गोखले के उन शब्दों का स्मरण हो आया, जिनका उन्होंने एक बार गांधीजी के लिए प्रयोग किया था। उन्होंने कहा था—"इनमें मिट्टी के घोंघे से बड़े-बड़े बहादुरों का निर्माण करने की शक्ति है।" राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक कार्य-प्रणाली के रूप में शांत सविनय अवज्ञा आंदोलन अपनी उपयोगिता सिद्ध कर चुका था और देश भर में—मित्रों और शत्रुओं दोनों के हृदय में—यह मौन विश्वास उत्पन्न हो गया कि हम विजय की ओर बढ़ रहे हैं। जो लोग आंदोलन में सक्रिय भाग ले रहे थे,उनमें एक विचित्र उत्तेजना भरी हुई थी और यह उत्तेजना कुछ-कुछ जेलों तक में पहुंच गयी थी। साधारण कैदी कहते थे—"स्वराज्य आ रहा है"और इस आशा में कि इससे उन्हें कुछ लाभ होगा, वे उसकी बेचैनी के साथ प्रतीक्षा करते रहे। जेलवाले भी बाजार की चर्चाओं को सुनकर यह उम्मीद करने लगे थे कि स्वराज्य निकट है। जेल के छोटे-छोटे अधिकारी कुछ ज्यादा परेशान दिखाई देने लगे थे।

प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस के बाद

६ फरवरी, १९३१ को—ठीक उसी दिन और शायद ठीक उसी समय जब मेरे पिताजी की मृत्यु हुई—गोलमेज कान्फ्रेन्स के भारतीय सदस्यों का एक दल बंबई लौटा। श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और शायद कुछ और लोग, जिनकी मुझे याद नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी और कांग्रेस-कार्यसमिति के कुछ सदस्य पहले से

ही वहां थे। हमारे घर पर कुछ प्राइवेट बैठकें हुईं, जिनमें गोलमेज कांफ्रेंस में किये गये कामों का ब्यौरा दिया गया।

गोलमेज कांफ्रेन्स के निर्णयों का कोई महत्त्व नहीं, यह मत हमारा पहले भी था और अब उसकी पुष्टि हुई। उस समय किसी ने—मुझे याद नहीं किसने—यह सुझाव रखा कि गांधीजी वाइसराय को पत्र लिख कर उनसे मुलाकात की अनुमति माँगें और साफ-साफ बातें करें। गांधीजी ऐसा करने के लिए तैयार हो गये, यद्यपि मैं समझता हूँ कि इस मामले में उन्हें कोई ज्यादा उम्मीद नहीं थी।

जो लोग गांधीजी से सहमत नहीं होते थे, उनसे मिलना गांधीजी हमेशा पसंद करते थे ; लेकिन किसी एक आदमी से निजी मामलों पर या छोटे-छोटे सवालों पर बात-चीत करना और बात थी, और विजयी साम्राज्यवाद का प्रतिनिधित्व करनेवाली ब्रिटिश सरकार-जैसी अव्यक्तिगत संस्था से लोहा लेना और बात। गांधीजी इस बात को जानते थे और वह इसलिए लार्ड इर्विन से मिलने कोई ऊँची उम्मीद लेकर नहीं गये। सविनय अवज्ञा आंदोलन तब भी चल रहा था, किंतु सरकार से विचार-विनिमय होने की अधिक चर्चा होने के कारण उसकी उग्रता कुछ कम हो गयी थी।

मुलाकात की व्यवस्था फौरन हो गयी और गांधीजी यह कहकर दिल्ली के लिए रवाना हो गये कि अगर अस्थायी समझौते के लायक कोई गम्भीर बातचीत हुई तो कार्यसमिति के सदस्यों को बुला लूंगा। कुछ दिनों बाद हम सब दिल्ली बुलाये गये। वहाँ हम तीन हफ्ते रहे।

इस बीच हमारी हर रोज बैठक होती थी, जिसमें हम देर तक विस्तार के साथ विचार-विनिमय करते थे। लार्ड इर्विन के साथ गांधीजी की जल्दी-जल्दी मुलाकातें होती थीं, लेकिन कभी-कभी तीन-तीन चार-चार दिन का अंतर पड़ जाता था, इसका कारण शायद यह था कि इस बीच भारत सरकार लंदन-स्थित इंडिया आफिस से परामर्श करती थी। कभी-

कभी छोटी-छोटी बातों—यहां तक कि कुछ शब्दों—के कारण प्रगति रुक जाती थी। इनमें से एक शब्द सविनय अवज्ञा आंदोलन का 'स्थगित किया जाना' था। गांधीजी यह बात हमेशा साफ-साफ कहते आये थे कि सविनय अवज्ञा का आंदोलन सदा के लिए बंद किया या छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि जनता के हाथ में वही एकमात्र शस्त्र है। फिर भी वह स्थगित किया जा सकता था। लार्ड इर्विन को इस शब्द पर आपत्ति थी। और वह उसे एक निश्चित रूप देना चाहते थे, जिसके लिए गांधीजी तैयार नहीं होते थे। अंत में 'सिलसिला बंद कर देना' शब्द का प्रयोग हुआ।

गांधीजी और विदेशी पत्रकार

उन दिनों दिल्ली सभी तरह के लोगों का आकर्षण बनी हुई थी। वहाँ बहुत-से विदेशी—विशेष रूप से अमरीकी—पत्रकार थे। वे हमारी चुप्पी से कुछ-कुछ तंग आ गये थे और कहते थे कि गांधी-इर्विन वार्ता के सम्बन्ध में हमें आपकी बनिस्बत नयी दिल्ली के सेक्रेटेरियेट से ज्यादा खबरें मिल जाती हैं। वह एक सही बात थी। उन्हीं दिनों दिल्ली में बहुत-से उच्च श्रेणी के ऐसे लोग थे, जो गांधीजी को प्रणाम करने आते थे। इसका कारण शायद यह था कि उन दिनों गांधीजी के नक्षत्र ऊंचे हो रहे थे। इन लोगों को देखकर बड़ी हँसी आती थी; क्योंकि अबतक तो वे कांग्रेस और गांधीजी से बिल्कुल अलग रहे थे और अक्सर उनकी निन्दा भी करते आये थे और अब जल्दी-जल्दी अपनी भूल सुधारने चले थे। कांग्रेस ने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और किसी को पता नहीं था कि भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है। फिर भी कांग्रेस औरा उसके नेतओं से बनाये रखने में ही अधिक बुद्धिमानी थी। एक साल बाद इन लोगों में फिर परिवर्तन हुआ और वे चिल्ला-चिल्लाकर कांग्रेस तथा उसके सारे कार्य के प्रति अपनी प्रगाढ़ घृणा प्रकट करने लगे और कहने लगे कि उनका कांग्रेस से कोई सम्बन्ध नहीं।

इन दिनों नयी दिल्ली में मैं अक्सर गांधीजी के साथ सवेरे टहलने जाया करता था। अक्सर वही एक ऐसा समय होता था जब कोई उनसे बातचीत कर सकता था, क्योंकि दिन का शेष भाग तो छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाता था और हर मिनट किसी आदमी या किसी काम के लिए निश्चित होता था। कभी-कभी सवेरे का टहलने का समय किसी मुलाकाती—विशेषकर विदेशी मुलाकाती—को या किसी ऐसे मित्र को दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत परामर्श करने के लिए आता था। हम भूत, वर्तमान और विशेष रूप से भविष्य के संबन्ध में बहुत-सी बातें करते थे। मुझे याद है कि एक दिन उन्होंने कांग्रेस के भविष्य के संबन्ध में अपना विचार बताकर मुझे चकित कर दिया था। मैं सोचा करता था कि स्वतंत्रता मिल जाने पर कांग्रेस का कांग्रेस के रूप में आप-से-आप अन्त हो जायगा। किंतु उनका विचार यह था कि कांग्रेस को रहना चाहिए, लेकिन एक शर्त पर—वह यह कि कांग्रेस अपने लिए एक आत्म-त्याग का कानून बना ले और वह निश्चय कर ले कि उसका एक भी सदस्य राज्य की अधीनता में कोई वैतनिक पद स्वीकार नहीं करेगा और यदि कोई व्यक्ति राज्य में किसी अधिकारी का पद ग्रहण करना चाहेगा तो उसे कांग्रेस से अलग हो जाना पड़ेगा। इस समय मुझे ठीक से याद नहीं कि उन्होंने यह बात किस-किस तरह से समझायी, किंतु उनका असली मन्तव्य यह था कि कांग्रेस अपने आत्म-त्याग के बल पर और चिंताहीन रहकर सरकार के कार्यकारी और अन्य विभागों पर बड़ा जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकती है और उन्हें ठीक मार्ग पर रख सकती है।

किसानों की छाप

भारत—देहाती भारत नहीं, बल्कि शहरी और औद्योगिक भारत—पर भी किसानों की छाप है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि भारत-माता अपने उस पुत्र को, जो उससे इतना मिलता जुलता है, किंतु फिर

भी भिन्न है, अपना आराध्य और प्यारा नेता बनाती ।

हममें से बहुत-से लोग इस कृषक दृष्टिकोण से अलग हट गये थे और पुराने ढंग के विचारों, रीति-रिवाज तथा धर्म को अपने लिए विदेशी समझने लगे थे। हम अपने को आधुनिक कहा करते थे और सब बातों को उन्नति और औद्योगीकरण, उच्चतर जीवन-मान तथा समूहवाद के दृष्टिकोण से देखा करते थे। हम किसानों के दृष्टिकोण को प्रतिगामी समझते थे और हममें से कुछ लोग, जिनकी कि संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और साम्यवाद का पक्ष लेने लगे । तो फिर हमने गांधीजी के साथ अपना राजनैतिक संबंध कैसे जोड़ा और किस तरह हममें से बहुत-से लोग उनके कट्टर अनुयायी बन गये, इसका उत्तर आसान नहीं है और जो आदमी गांधीजी को नहीं जानता वह तो किसी के भी उत्तर से संतुष्ट नहीं हो सकता । व्यक्तित्व की परिभाषा नहीं की जा सकती । यह एक विचित्र शक्ति है, जिसका मनुष्य की आत्मा पर प्रभुत्व होता है । इस शक्ति की गांधीजी में बहुलता थी और जो लोग उनसे मिलने आते थे उन्हें वह एक बिल्कुल भिन्न रूप में दिखाई पड़ते थे । वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे । वह एक क्रान्तिकारी थे, उन्होंने महान् परिवर्तनों के लिए कमर कस रखी थी और वह परिणाम से भयभीत होकर कभी रुकते नहीं थे । गांधीजी ने आलसी और भ्रष्ट जनता को अनुशासित और कर्मण्य बनाया, किसी प्रकार का दबाव डालकर या आर्थिक प्रलोभन दिखाकर नहीं, बल्कि अपनी नम्र दृष्टि, अपने कोमल वचन, और उससे भी अधिक अपने व्यक्तिगत दृष्टांत से ।

गांधी एक क्रांतिकारी

१९३० का साल सचमुच ही एक बड़ा आश्चर्यजनक साल था और ऐसा मालूम होता था जैसे गांधीजी ने अपने जादू के डंडे से देश का रूप ही बदल दिया है । हममें कोई भी आदमी यह सोचने की मूर्खता नहीं

करता था कि हमने ब्रिटिश सरकार पर अंतिम विजय प्राप्त कर ली है। हमारे हर्ष की भावना का सरकार से कोई संबंध नहीं था। हमें अपनी जनता पर अभिमान था—अपनी महिलाओं पर, अपने नौजवानों पर, और अपने बच्चों पर, उन कार्यों के लिए जो उन्होंने आंदोलन के दिनों में किये थे। वह एक ऐसा आत्मिक लाभ था जो किसी भी समय और किसी के लिए भी बहुमूल्य हो सकता था। हम गुलामों और पददलितों के लिए तो उसका दुगुना मूल्य था और हम इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि कोई ऐसी बात न होने पाये जिससे वह लाभ हमसे छिन जाय।

गांधी-इर्विन समझौता

४ मार्च की रात को हम लोग आधी रात तक गांधीजी के वाई-सराय-भवन से लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। वह दो बजे लौटे और हमें जगाकर बताया कि समझौता हो गया है। हमने उस समझौते का मसविदा देखा। मैं उसकी अधिकांश धाराओं को जानता था, क्योंकि उनपर अक्सर वादविवाद हुआ था, किंतु ऊपर ही 'धारा २' को देखकर मुझे जबर्दस्त धक्का लगा। उसमें संरक्षण आदि का उल्लेख था। मैं उसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। उस समय मैंने कुछ नहीं कहा और हम सब सो गये।

कुछ और कहने-सुनने का सवाल ही नहीं था। काम हो चुका था और हमारा नेता अपना वचन दे चुका था। यदि हम उनसे असहमत भी थे तो कर क्या सकते थे? उन्हें हटा देते? उनसे संबंध तोड़ लेते? अपने मतभेद की घोषणा करते? ऐसा करने से किसी व्यक्ति-विशेष को कुछ वैयक्तिक संतोष हो सकता था, किंतु उसका अंतिम निर्णय पर कुछ असर नहीं पड़ता। कम-से-कम उस समय के लिए तो सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर ही दिया गया था और जबकि सरकार यह कह सकती थी कि गांधीजी ने समझौता कर लिया है तो कार्यसमिति उस आंदोलन को आगे नहीं बढ़ा सकती थी। अपने दूसरे साथियों की तरह मैं भी इस

आंदोलन को स्थगित कर सरकार से अस्थायी समझौता करने के लिए तैयार था। हमारे लिए यह काम आसान नहीं था कि हम अपने साथियों को फिर जेल भेज दें या जो हजारों लोग जेल में थे उनके वहीं रह जाने का कारण बनें। कैद कोई ऐसी सुन्दर जगह नहीं है जहाँ जिन्दगी बितायी जाय, यद्यपि हममें से कुछ लोग अपने को उसके लिए तैयार कर सकते हैं और उसकी घातक दिनचर्या की ओर से लापरवाही व्यक्त कर सकते हैं। इसके अलावा गांधीजी और लार्ड इर्विन के बीच तीन सप्ताह या उससे भी अधिक दिनों तक बातचीत चलते रहने से देश भर को यह आशा होने लगी थी कि समझौता होने ही वाला है। इस अवस्था पर आकर अगर समझौते की वार्ता टूट जाती तो सबको बड़ी निराशा होती। इसलिए कार्यसमिति के सभी सदस्य निश्चय ही एक अस्थायी समझौते के पक्ष में थे---अस्थायी समझौते से अधिक वह हो भी क्या सकता था---बशर्ते कि उससे हमारी कोई महत्त्वपूर्ण पराजय न होती।

दो बातें ऐसी थीं, जिनमें मुझे सबसे ज्यादा दिलचस्पी थी। उनमें से एक यह थी कि हमारी स्वतंत्रता की माँग किसी तरह भी ढीली न की जाय और दूसरी यह कि समझौते का युक्त प्रांत के गाँवों पर क्या असर पड़ेगा। गांधीजी ने यह बात लार्ड इर्विन से बिलकुल साफ कर दी थी। सरकार जो कर माँगती थी उसे देने में किसान असमर्थ थे। गांधीजी ने कह दिया था कि यद्यपि कर-विरोधी आंदोलन बंद कर दिया जायगा तथापि हम किसानों को अपनी सामर्थ्य से अधिक देने की सलाह नहीं दे सकते।

हमारे लक्ष्य—अर्थात् स्वतन्त्रता का भी प्रश्न था। मैंने देखा कि समझौते की धारा २ के कारण यह उद्देश्य भी संकट में पड़ गया है। क्या यही चीज थी जिसके लिए हमारी जनता ने एक साल तक इतनी बहादुरी के साथ काम किया था? क्या वीरता से भरी हुई हमारी सारी बातों और हमारे सारे कार्यों का यही अन्त होनेवाला था?

सविनय अवज्ञा आंदोलन-१

किसी और के जरिये से गांधीजी को मेरे क्षोभ का पता लग गया और उन्होंने मुझे अगले दिन टहलने के समय अपने साथ चलने को कहा। उस दिन हमारी उनकी बड़ी देर तक बातें हुईं और उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि हमने कोई भी महत्त्वपूर्ण चीज नहीं खोयी है और न हमारी कोई सैद्धान्तिक पराजय ही हुई है। उन्होंने समझौते की धारा २ की व्याख्या एक ऐसे विशेष ढंग से की जिससे वह हमारी स्वतंत्रता की माँग के अनुकूल प्रतीत होने लगे। उनका तर्क मुख्यतः 'भारत के हित में' शब्दों पर आधारित था। मुझे उनकी व्याख्या एक जबरदस्ती की व्याख्या मालूम हुई और मुझे संतोष नहीं हुआ, यद्यपि उनकी बातों ने मुझे शांत अवश्य कर दिया।

एक-दो दिन तक मैं इसी तरह विचलित रहा और समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ। उस समय समझौते का विरोध करने या उसे रोकने का कोई प्रश्न नहीं था। वह अवस्था तो बीत चुकी थी और मैं इतना ही कर सकता था कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सैद्धांतिक रूप से उससे अपने को अलग कर लूं। उससे मेरा अपना अहंकार तो शांत हो जाता, किंतु देश के बड़े प्रश्न के समाधान में कोई सहायता नहीं मिलती। इसलिए मैंने सोचा कि क्या यह अच्छा नहीं होगा कि जो कुछ हो चुका है उसे मैं शिष्टतापूर्वक स्वीकार कर लूं और उसकी अधिक-से-अधिक अनुकूल व्याख्या करूँ जैसा कि गांधीजी ने किया था।

इसलिए मैंने समझौते को स्वीकार करने और उसके लिए पूरी लगन के साथ काम करने का निश्चय किया, यद्यपि ऐसा करने में मुझे काफी मानसिक संघर्ष और शारीरिक क्षोभ का सामना करना पड़ा। मुझे कोई बीच का रास्ता ही नहीं दिखाई देता था।

समझौते से पहले और उसके बाद भी गांधीजी की लार्ड इर्विन से जो मुलाकातें हुई थीं उनमें उन्होंने सविनय अवज्ञा से संबंध न रखनेवाले

सभी राजनैतिक कैदियों को छोड़ देने पर जोर दिया था। सविनय अवज्ञा के कैदी तो समझौते की शर्त के अनुसार रिहा होनेवाले थे ही, लेकिन उनके सिवा हजारों और कैदी भी थे जिनमें से कुछ को तो अदालती कार्रवाई के बाद कैद की सजा मिली थी और कुछ ऐसे थे जो बिना किसी आरोप, अदालती कार्रवाई या सजा के ही नजरबंद थे। इनमें से अनेक तो कई वर्षों से ऐसे ही नजरबंद चले आ रहे थे और इस तरह बिना मुकदमा चलाये ही कैद में रखने की प्रणाली पर सारे भारतवर्ष और खास तौर से बंगाल में जहाँ कि इसका सबसे ज्यादा असर पड़ा था, अतिशय क्रोध की भावना फैली हुई थी। गांधीजी ने इनकी रिहाई की पैरवी की थी और कहा था कि समझौते की शर्तों के मुताबिक न सही, कम-से-कम बंगाल में राजनैतिक तनाव को कम करने और वहाँ अधिक शांतिपूर्ण वातावरण स्थापित करने के लिए इन कैदियों की रिहाई अत्यंत अपेक्षणीय है। किंतु सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी।

कराची की कांग्रेस गांधीजी के लिए पहले की सभी कांग्रेसों से बड़ी व्यक्तिगत विजय थी। उसके अध्यक्ष, सरदार वल्लभभाई पटेल, भारत के सबसे अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली व्यक्तियों में से थे और उन्हें गुजरात में सफल नेतृत्व की प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो चुकी थी; फिर भी उस अधिवेशन के प्रधान व्यक्ति महात्माजी थे। किंवदंती यह है कि इस प्रस्ताव को—या कम-से-कम उसके एक बड़े भाग को साम्यवाद से सहानुभूति रखनेवाले किसी रहस्यपूर्ण व्यक्ति ने तैयार किया था और कराची में उसे मुझपर डाल दिया था, जिसके बाद मैंने गांधीजी को चुनौती दी थी कि या तो इसे स्वीकार कीजिए या दिल्ली समझौते के प्रश्न पर मेरे विरोध का सामना कीजिए और इसपर गांधीजी ने मुझे शांत करने के लिए प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था तथा उसे विषय-समिति के थके-मांदे सदस्यों के गले उतारकर आखिरी दिन कांग्रेस पर लाद दिया था।

जहाँ तक गांधीजी का सवाल है, मुझे उन्हें काफी घनिष्ठता के साथ जानने का सौभाग्य मिला है और उन्हें चुनौती देने या सौदा करने का विचार मुझे पैशाचिक मालूम होता है। हम एक-दूसरे के लिए अपने हृदय में स्थान निकाल सकते हैं या किसी विशेष मामले में एक-दूसरे से पृथक् भी हो सकते हैं, किंतु हमारे पारस्परिक व्यवहार में कभी बाजारू तरीकों का प्रयोग नहीं हो सकता।

: ५ :

सविनय अवज्ञा आन्दोलन–२

सितम्बर १९३२ के मध्य में हमारे शांत और नीरस जेल-जीवन में सहसा बम-विस्फोट हुआ। समाचार मिला कि रैमजे मैक्डोनैल्ड ने अपने सांप्रदायिक निर्णय में दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन का जो अधिकार दिया है उसके विरोध में गांधीजी ने आमरण अनशन करने का निश्चय किया है। जनता के हृदय को एकाएक धक्का पहुँचाने की उनमें कैसी अपूर्व क्षमता थी ! सहसा मेरे मस्तिष्क में सभी प्रकार के विचार दौड़ गये। मेरी आँखों के सामने सभी तरह की संभावनाएँ और संकट-कालीन आवश्यकताएँ नाच उठीं और उनसे मेरे चित्त का संतुलन बिलकुल नष्ट हो गया। दो दिन तक मैं पूर्ण अंधकार में रहा और उससे बाहर निकलने के लिए मुझे कहीं प्रकाश नहीं दिखाई दिया। गांधीजी के इस कार्य के परिणामों को सोचकर तो मेरा दिल बैठने लगता था। व्यक्तिगत रूप से भी चिंता कुछ कम नहीं थी। मुझे यह सोचकर बड़ी मानसिक वेदना होती थी कि शायद अब मैं उन्हें न देख सकूं। आखिरी बार मैंने इग्लैंड जाते समय जहाज पर देखा था और उसको एक वर्ष हो गया था। क्या वही उनका अंतिम दर्शन सिद्ध होनेवाला था ?

और तब मुझे इस बात पर बड़ी झुंझलाहट हुई कि उन्होंने अपने अंतिम उत्सर्ग के लिए एक गौण समस्या चुनी है। इसका हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में क्या असर पड़ेगा ? क्या इसके कारण, कम-से-कम कुछ समय के लिए, बड़े-बड़े प्रश्न पृष्ठभूमि में नहीं पड़ जायंगे ? और यदि वह

तत्कालीन उद्देश्य में सफल भी हो गये और दलित जातियों के लिए संयुक्त निर्वाचनप्रणाली स्वीकार भी करा ली तो क्या उसकी प्रतिक्रिया नहीं होगी और लोगों में यह भावना जड़ नहीं पकड़ लेगी कि थोड़ा बहुत मिल ही गया है, अब कुछ समय के लिए कुछ और करने की आवश्यकता नहीं ?

गांधीजी के इस प्रकार एक राजनैतिक प्रश्न पर धार्मिकता और भावुकता के धरातल से विचार करने और उस संबंध में बार-बार ईश्वर का उल्लेख करने पर मुझे क्रोध आया । उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि ईश्वर ने उनके उपवास की वास्तविक तिथि तक का संकेत कर दिया है । वह लोगों के सामने कैसा भयंकर दृष्टांत रख रहे थे !

अगर बापू मर गये तो भारत का क्या रूप होगा ? और उसकी राजनीति कैसे चलेगी ? हमें अपने सामने एक भयावना और अंधकारपूर्ण भविष्य दिखाई दिया और जब मैंने उसपर विचार किया तो मेरा मन निराशा से भर गया ।

ऐतिहासिक उपवास

और तब मेरे साथ एक अजीब बात हुई । जिस मानसिक संकट ने एकाएक मुझे घेर लिया था उसका शमन हो जाने पर मुझे अपेक्षाकृत शांति का अनुभव हुआ और भविष्य मुझे उतना अंधकारपूर्ण नहीं दिखाई दिया । बापू में परिपक्व मनोवैज्ञानिक अवसर पर समयोचित कार्य करने की अद्भुत कुशलता थी और संभव था कि मैं उनके उपवास का—जिसका कि मैं उस रूप में अपने दृष्टिकोण से समर्थन नहीं कर सकता था—केवल उसके सीमित और संकुचित क्षेत्र में नहीं, बल्कि हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के व्यापक क्षेत्र में ही बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलता । और, अगर बापू जाते भी तो हमारा स्वतंत्रता-संग्राम आखिर चलता ही रहता । इसलिए जो भी हो, हमें अपने को तैयार और स्वस्थ रखना था । गांधीजी की मृत्यु तक का अविचलित रूप से सामना करने का निश्चय

कर मैंने अपने को शांत, सुस्थिर और संसार तथा समय के गर्भ में छिपी हुई सम्भावनाओं का सामना करने को तैयार पाया।

और तब देशभर में भयंकर उथल-पुथल मचाने का समाचार मिला, हिंदू समाज में उत्साह की एक जादू-जैसी लहर दौड़ गयी और अस्पृश्यता का अंत निकट दिखाई दिया। मैंने सोचा कि यरवदा-जेल में बैठा हुआ यह पतला-सा व्यक्ति कितना बड़ा जादूगर है और वह उस डोरी को खींचने में कितना प्रवीण है, जो जनसाधारण के हृदय को हिला देती है।

मेरे पास गांधीजी का एक तार आया। जेल की सजा मिलने के बाद उनका यह पहला संदेश था और इतने दिनों बाद उनके पास से समाचार पाकर मुझे बड़ा सहारा मिला। तार में लिखा था—

"इन यातनापूर्ण दिनों में तुम सदा मेरी आँखों के सामने रहे हो। मैं तुम्हारी राय जानने को बड़ा उत्सुक हूँ। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी राय को कितना मूल्यवान समझता हूं। स्वरूप के बच्चों और इन्दु से मिला था। इन्दु प्रसन्न और कुछ मोटी दिखाई देती थी। मैं भी ठीक हूँ। तार से उत्तर दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण किंतु गांधीजी के स्वभाव के बिलकुल अनुरूप बात थी कि उपवास का कष्ट उठाते समय और अपने कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने मेरी लड़की का और मेरी बहन के बच्चों का अपने यहाँ आने का उल्लेख किया और यहाँ तक लिखा कि इन्दिरा मोटी हो गयी है। (मेरी बहन भी उन दिनों जेल में थी और ये सब बच्चे पूना में एक स्कूल में थे।) वह जीवन की उन बातों को कदापि नहीं भूलते, जो देखने में तो छोटी लगती हैं, किंतु वास्तव में जिनका अर्थ बहुत बड़ा होता है।

उसी समय मुझे यह भी समाचार मिला कि निर्वाचन-प्रणाली के संबंध में कुछ समझौता हो गया है। जेल के सुपरिंटेंडेंट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को उत्तर भेजने की अनुमति दे दी और मैंने उन्हें यह

तार दिया—

"आपके तार और साथ ही इस संक्षिप्त समाचार से कि किसी तरह का समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हासिल हुई है। आपके उपवास के समाचार से पहले मुझे बड़ी मानसिक पीड़ा और उलझन हुई, किंतु अंत में आशा की विजय हुई और मेरे चित्त की शांति लौट आयी। दमन के शिकार पददलितों के लिए जो भी त्याग किया जाय थोड़ा है। स्वतंत्रता की परीक्षा तो निम्नतम श्रेणी के लोगों की ही स्वतंत्रता के आधार पर होनी चाहिए, किंतु भय है कि कहीं दूसरे प्रश्न हमारे एकमात्र लक्ष्य को आच्छादित न कर लें। मैं इस प्रश्न पर धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूं। खतरा है कि कहीं दूसरे लोग आपके तरीकों से फायदा न उठायें, किंतु मैं एक जादूगर को सलाह देने की कल्पना भी कैसे कर सकता हूँ। प्रेम।"

हरिजन आंदोलन

पूना में जमा हुए विभिन्न लोगों ने एक पैक्ट (समझौते) पर हस्ताक्षर किये, जिसे ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने असाधारण स्फूर्ति के साथ स्वीकार कर अपने पहले निर्णय को पैक्ट के अनुसार बदल दिया और गांधीजी का उपवास भंग हो गया। ऐसे पैक्ट और समझौते मुझे बहुत नापसंद थे, किंतु मैंने पूना-पैक्ट का हार्दिक स्वागत किया।

उत्तेजना कम हुई और हम एक बार फिर जेल के क्रम के अनुसार जीवन बिताने लगे। हरिजन-आंदोलन के समाचार मिलते रहे और गांधीजी जेल ही में बैठे-बैठे जो काम किया करते थे उनका भी पता चलता रहा, किंतु इनसे मुझे ज्यादा खुशी नहीं होती थी। यह भी स्पष्ट हो गया था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को क्षति पहुंची है। देश का ध्यान अन्य समस्याओं की ओर बंट गया था और कांग्रेसी कार्यकर्ता हरिजन आंदोलन में लग गये थे। शायद उनमें से ज्यादातर लोग इस तरह के अधिक सुरक्षित कामों में लगने का बहाना चाहते थे, जिनमें

जेल जाने या (जो कि इससे भी बुरा था) लाठियाँ खाने और जायदाद के जब्त होने का भय न हो। यह स्वाभाविक भी था। फिर भी अपने महान आंदोलन को इस प्रकार धीरे-धीरे विनष्ट होते देखना हमारे लिए कष्टदायक था।

दूसरा उपवास

कई महीनों बाद, मई १९३३ के आरंभ में गांधीजी ने अपने इक्कीस दिनों का उपवास आरंभ किया। इस घटना के प्रथम समाचार से मुझे फिर धक्का लगा था, किंतु मैंने इसे एक अनिवार्य घटना के रूप में स्वीकार कर लिया और अपने को उसके लिए तैयार किया। मुझे इस बात पर झुंझलाहट मालूम होती थी कि गांधीजी एक बार उपवास करने का निश्चय कर चुके हैं और सार्वजनिक रूप से उसकी घोषणा भी कर चुके हैं तो लोग उनपर उसे त्यागने का जोर क्यों डालते हैं। उपवास की बात मेरी समझ में नहीं आया करती थी और यदि निश्चय करने से पहले मुझसे पूछा गया होता तो निश्चय ही मैंने उसका जोरों से विरोध किया होता। किंतु मैं गांधीजी के संकल्प को बड़ा महत्त्व दिया करता था और एक ऐसे निजी मामले में जिसका कि उनकी दृष्टि में बड़ा महत्त्व था, किसी का उनसे उस संकल्प को तोड़ने के लिए कहना मुझे बड़ा गलत मालूम होता था। इसलिए दुःखी होते हुए भी मैंने उसे सहन कर लिया।

साम्यवादी आलोचना

यह बात एक तरफ साफ-साफ दिखाई दे रही थी कि लोगों में जाँच-पड़ताल करने, सवाल पूछने और वर्तमान संस्थाओं को चुनौती देने की एक नयी भावना आती जा रही है। इस मानसिक हवा की आम दिशा स्पष्ट थी, किन्तु अभी वह एक धीमी बयार के ही रूप में थी और उसे अभी अपनी शक्ति में पूरा-पूरा विश्वास नहीं था। कुछ लोग फासिस्ट भावनाओं के साथ खेल रहे थे। निर्मल और निश्चित सूझबूझ की कमी

दिखाई दे रही थी। राष्ट्रीयता अब भी प्रधान विचारधारा थी।

यह बात मुझे स्पष्ट रूप में समझ आ गयी कि जब तक थोड़ी-बहुत राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं मिल जायगी तब तक राष्ट्रीयता ही सब लोगों की प्रधान प्रेरणा बनी रहेगी। यही कारण था कि कांग्रेस भारत की सबसे उन्नत और शक्तिशाली संस्था बनी रही थी, (और कुछ मजदूर क्षेत्रों को छोड़कर) अब भी थी। पिछले १३ वर्षों में गांधीजी के नेतृत्व में उसने जनता में एक आश्चर्यजनक जागृति उत्पन्न की थी और अपनी अनिश्चित मध्यमवर्गीय विचारधारा के बावजूद उसने एक क्रांतिकारी उद्देश्य की पूर्ति की थी।

किंतु उन दिनों कांग्रेस का अर्थ गांधीजी से था। वह क्या करेंगे? उनके विचार कभी-कभी बड़े ही पुराने जमाने के होते थे, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह भारत में आधुनिक युग के सबसे बड़े क्रांति-कारी थे। उनका व्यक्तित्व एक विचित्र व्यक्तित्व था और उनका मूल्य साधारण मापदण्ड से नहीं आँका जा सकता था, यहाँ तक कि उनपर तर्कशास्त्र के साधारण नियम भी लागू नहीं किये जा सकते थे किंतु चूंकि वह हृदय से क्रांतिकारी थे और उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता का संकल्प ले रखा था, इसलिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक उनका इस प्रकार दृढ़तापूर्वक कार्य करते रहना अनिवार्य था। मुझे आशा थी कि इसी क्रिया से वह जनता में महान शक्ति उत्पन्न कर देंगे और धीरे-धीरे स्वयं भी सामाजिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे।

पिछले कितने ही भारत के और भारत से बाहर के कट्टर साम्य-वादी गांधीजी तथा कांग्रेस पर कटु आक्षेप करते रहे और कांग्रेसी नेताओं पर हर तरह के नीच मन्तव्यों का आरोप लगाते रहे हैं। उन्होंने कांग्रेस-विचारधारा की जो सैद्धांतिक आलोचनाएँ की हैं उनमें से कितनी ही योग्यतापूर्ण और संगत थीं और समय ने अंशतः उनका समर्थन भी किया है। भारत की आम राजनैतिक स्थिति के उनके कितने ही

प्रारम्भिक विश्लेषण बाद में आश्चर्यजनक रीति से सत्य सिद्ध हुए। किन्तु जब वे अपने सिद्धांतों को छोड़कर विस्तार की बातों में प्रवेश करते हैं– और विशेष रूप से जब वे कांग्रेस के कार्य पर विचार करने बैठते हैं तो बुरी तरह पथभ्रष्ट हो जाते हैं। भारत में साम्यवादियों की कम संख्या और कम प्रभाव का एक कारण यह है कि यहाँ के साम्यवादियों ने साम्यवाद की वैज्ञानिक जानकारी फैलाने और जनता की विचारधारा को उसके पक्ष में बदलने की चेष्टा करने की बजाय अपना ध्यान ज्यादातर दूसरों को गाली देने पर केन्द्रित रखा है। इसकी उनपर प्रतिक्रिया हुई है और उन्हें बड़ी क्षति पहुँची है। साम्यवादी लोग इस बात को समझ नहीं पाये हैं कि आज भारत में मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे लोग ही सबसे अधिक क्रांतिकारी हैं। फिर भी साम्यवादियों की इस कट्टरता के बावजूद बहुत-से सुशिक्षित लोग साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए हैं, किंतु तब भी दोनों के बीच एक खाई है।

साम्यवादियों का कहना है कि कांग्रेसी नेताओं का लक्ष्य सरकार पर जनता का दबाव डालकर भारतीय पूंजीपतियों और जमींदारों के हित में औद्योगिक और व्यावसायिक रियायतें प्राप्त करना रहा है। उनकी राय में कांग्रेस का काम 'किसानों, मध्यम वर्ग की नीची श्रेणी के लोगों और औद्योगिक मजदूरों के आर्थिक और राजनैतिक असंतोष पर साज डाल उसे बंबई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिकों पर और पूँजीपतियों के रथ में जोतना रहा है।' उनका खयाल है कि भारतीय पूँजीपति परदे के पीछे बैठे-बैठे कांग्रेस-कार्यसमिति को पहले तो एक सार्वजनिक आंदोलन चलाने का आदेश देते हैं और जब वह आंदोलन विशाल तथा संकटजनक रूप धारण कर लेता है तो वे उसे स्थगित करने या गौण बना देने को कहते हैं। इसके अलावा, साम्यवादियों का कहना है कि कांग्रेसी नेता वस्तुतः अंग्रेजों का भारत से जाना नहीं चाहते; क्योंकि भारत की भूखों मरती जनता को नियन्त्रण में रखने

और उनका पोषण करने के लिए उनकी जरूरत है और भारत के मध्यम श्रेणी के लोग अपने को इस योग्य नहीं समझते।

ताज्जुब की बात है कि योग्य साम्यवादी भी ऐसे भद्दे विश्लेषणों पर विश्वास करते हैं, किंतु स्पष्ट है कि वे इनमें विश्वास करते हैं, इसलिए उनका भारत में इतना असफल होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनकी बुनियादी गलती यह है कि वे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को यूरापीय मजदूरों के मापदंड से नापते हैं और चूंकि मजदूर-नेताओं का मजदूर-आंदोलन के साथ बराबर धोखा करना उनके लिए कोई नयी बात नहीं है, इसलिए वे यही उपमा भारत पर भी लागू करते हैं।

यह खयाल भी बिलकुल गलत है कि सन् १९२१ और १९३० में जनता के दबाव के कारण गांधीजी को ऐसे आंदोलन प्रारम्भ करने पड़े थे, जो बाहर से देखने में आक्रमणकारी मालूम होते थे। यह तो ठीक है कि जनता में उथल-पुथल मची हुई थी, किंतु दोनों बार कदम गांधीजी ने ही बढ़ाये। सन् १९२१ में उन्होंने प्रायः अकेले अपने बूते पर कांग्रेस का संचालन किया और उसे असहयोग-आंदोलन में संलग्न कर दिया। सन् १९३० में अगर गांधीजी ने जरा भी विरोध किया होता तो सीधी कार्रवाई का कोई आक्रमणात्मक या कारगर आन्दोलन कभी सम्भव न होता।

गांधीजी की सचाई पर आघात करना अपने-आपको और अपने हित को नुकसान पहुँचाना है, क्योंकि भारत के लाखों सपूतों की आँखों में वह सत्य की प्रतिमूर्ति हैं। जो आदमी उन्हें जरा भी जानता है वह उनकी उस तीव्र लगन से परिचित है, जिसके साथ वह सदा सत्य कार्य करने की चेष्टा करते रहे हैं।

यरवदा जेल में

जिस समय मैं जेल से छूटने की प्रतीक्षा में था, बाहर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा के रूप में एक नये ढंग का आंदोलन आरम्भ हो रहा

था। इसमें भी गांधीजी ने ही पहल करने की ठानी और अधिकारियों को नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानों को सविनय अवज्ञा सिखाने के अभिप्राय से रवाना हुए। वह फौरन कैद कर लिये गये, उन्हें एक साल की सजा हुई और वह यरवदा-जेल की अपनी कोठरी में भेज दिये गये। मुझे इससे खुशी हुई, किंतु जल्दी ही एक नयी जटिलता उठ खड़ी हुई। गांधीजी ने पहले की ही तरह इस बार भी जेल से हरिजन-कार्य करते रहने के लिए सुविधाएँ माँगीं, किंतु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। एकाएक हमें सूचना मिली कि इस प्रश्न पर गांधीजी ने अनशन आरम्भ कर दिया है। इतना बड़ा कदम उठाने के लिए यह एक बहुत ही साधारण-सी बात मालूम होती थी। सरकार से उनका तर्क चाहे पूरी तरह से सही क्यों न हो, उनकी अनशन करने की बात मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आयी। पर हम कुछ कर नहीं सकते थे और भौंचक्के बने केवल प्रतीक्षा करते रहे।

अनशन के एक सप्ताह बाद उनकी अवस्था बड़ी तेजी से गिरने लगी। वह अस्पताल में भेज दिये गये थे, किंतु थे वह तब भी कैदी ही और हरिजन-कार्य के लिए सुविधा देने के प्रश्न पर सरकार झुक नहीं रही थी। जीवित रहने की जो आकांक्षा उनमें पहले के उपवासों में थी वह इस बार नहीं रह गयी थी और उन्होंने अपने को बिल्कुल ढीला छोड़ दिया था। उनका अंत समीप दिखाई देता था। उन्होंने सबसे अंतिम विदा कही और आस-पास पड़ी हुई अपनी निजी चीजें लोगों में बाँट दीं और कुछ नर्सों को दे दीं। किंतु सरकार उन्हें अपने हाथों मरने देना नहीं चाहती थी और उसी शाम को वह रिहा कर दिये गये। यह बात ऐन मौके पर आकर हुई। अगर एक दिन की और देर हो गयी होती तो शायद उन्हें न बचाया जा सकता। उनकी प्राणरक्षा का बहुत-कुछ श्रेय सी० एफ० ऐन्ड्रूज को मिलना चाहिए, जो गांधीजी के मना करने पर भी भागते हुए भारत आये थे।

जेल से छूटने पर जब मैंने भारत की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति का सिंहावलोकन किया तो मुझे बहुत ही कम उत्साह हुआ। माताजी के स्वास्थ्य में सुधार होते ही मैं गांधीजी से मिलने पूना गया। उनसे फिर से मिलकर और यह देखकर कि कमजोरी के बावजूद उनकी अवस्था में संतोषजनक सुधार हो रहा है, मुझे बड़ा सुख मिला। मेरी उनकी लम्बी-चौड़ी बातें हुईं। जीवन, राजनीति और अर्थ-संबंधी विचारों में मेरा उनसे काफी मतभेद था, किंतु मेरे दृष्टिकोण को यथा-साध्य स्वीकार करने में उन्होंने जो उदारता दिखायी उसके लिए मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हुआ। मेरे मस्तिष्क में बड़ी-बड़ी समस्याएँ उथल-पुथल मचा रही थीं। उनके संबंध में मेरा उनका पत्र-व्यवहार भी हुआ था, जो बाद में प्रकाशित कर दिया था। उनमें इन समस्याओं का उल्लेख हुआ तो बड़ी ही अनिश्चित भाषा में, किंतु आम दिशा स्पष्ट थी। मुझे गांधीजी की इस घोषणा से खुशी हुई कि स्वार्थरत हितों को समाप्त करना चाहिए। किंतु यह काम जबरदस्ती से नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन द्वारा होना चाहिए। चूंकि मैं जानता था कि उनके हृदय-परिवर्तन के अनेक तरीकों में एक प्रकार की विनीत और नम्र जबरदस्ती ही हाती है, मुझे अपने और उनके दृष्टिकोग में कुछ विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। उस समय भी उनके प्रति यही भावना थी कि अनिश्चित सिचांतों पर विचार करने के वह चाहे कितने ही विरुद्ध क्यों न हों, वास्तविकता उन्हें धीरे-धीरे अनिवार्य रूप से आधारभूत सामाजिक परिर्वतन की ओर ले जायगी।

कांग्रेस से अवकाश

गांधीजी के सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी वह एक व्यक्तिगत समस्या थी। वह सोच रहे थे कि खुद उन्हें क्या करना है। वह उलझन में थे। वह सोचते थे कि अगर मैं जेल-यात्रा में गया तो हरिजन-कार्यके लिए सुविधा का प्रश्न फिर उठेगा, जिसपर शायद सरकार फिर झुकेगी

नहीं और मुझे फिर से उपवास करना पड़ेगा। तो क्या ये सब बातें ही फिर से दुहरायी जायँ ? उन्होंने ऐसी शिथिल नीति को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कहा कि अगर मैंने इस प्रश्न पर फिर से उपवास किया तो वह रिहाई के बाद भी जारी रहेगा। इसका मतलब था कि आमरण अनशन।

गांधीजी के सामने दूसरा सम्भव रास्ता यह था कि जबतक सजा की अवधि समाप्त न हो जाय—अभी उसे साढ़े दस महीने और बाकी थे—तबतक वह अपने को फिर से गिरफ्तार न करायें और हरिजन-कार्य में संलग्न रहें। लेकिन साथ ही कांग्रेस-कार्यकर्ताओं से मिलते रहें व आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सलाह भी दें।

उन्होंने मेरे सामने जो तीसरा सुझाव रखा वह यह था कि वह कुछ समय के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे "नौजवानों" के हाथों में छोड़ दें।

पहला रास्ता, जिसका अंत अनशन द्वारा गांधीजी की मृत्यु में दिखाई देता था, हमारे लिए कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता था। तीसरा रास्ता भी, ऐसे समय में जब कांग्रेस स्वयं एक अवैध संस्था थी, बड़ा अनुचित प्रतीत होता था। उसका नतीजा यह होता कि या तो सविनय अवज्ञा आंदोलन और सब तरह की सीधी कार्रवाइयाँ फौरन बंद हो जातीं और कांग्रेस को फिर से अपनी पुरानी कानूनी और वैधानिक कार्रवाइयों का सहारा लेना पड़ता, या एक अवैध और परित्यक्त संस्था बनकर—यहाँ तक कि गांधीजी द्वारा भी त्यागी जाकर--सरकार द्वारा और भी अधिक कुचली जाती। इसके अलावा यह कब सम्भव था कि कोई एक दल एक ऐसी अवैध संस्था को संभालने का भार वहन करता जिसकी न बैठकें हो सकती थीं और न जो किसी नीति पर वादविवाद ही कर सकती थी। इस प्रकार पहले और तीसरे रास्तों को अलग हटाकर हम गांधीजी द्वारा बताये गये दूसरे रास्ते पर पहुँचे। हममें से अधिकांश

लोग उसे नापसंद करते थे और जानते थे कि उससे सविनय अवज्ञा आंदोलन के शेष अंश को बड़ा जबरदस्त धक्का लगेगा। युद्ध के मैदान से सेनापति के हट जाने पर दूसरे उत्साही कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के आगे बढ़कर आग में कूदने की बहुत ही कम 'संभावना' थी; किंतु इस झमेले से बाहर निकलने का और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था, इसलिए गांधीजी ने उसीके अनुसार अपनी घोषणा कर दी।

समाजवादियों की आलोचना

बंबई में मैं कितने ही मित्रों और साथियों से मिला। इनमें से कुछ हाल ही में जेल से छूटकर आये थे। वहाँ समाजवादी भावना का बोलबाला था और पिछले दिनों जो घटनाएँ घटी थीं, उनके प्रति कांग्रेस के उच्चवर्ग में बड़ा क्रोध फैला हुआ था। राजनीति को आध्यात्मिक दृष्टि से देखने के लिए गांधीजी की बड़ी तीव्र आलोचना की जाती थी। इनमें से अनेक बातों से मैं सहमत था, किन्तु मैं यह साफ-साफ समझता था कि उस समय की स्थिति में हमारे लिए और कोई विकल्प ही नहीं था और हमें उसी तरह से काम करते रहना था। सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने से हमें कोई राहत नहीं मिल सकती थी, क्योंकि सरकार के प्रहार जारी रहते और कोई भी कार्रवाई करने पर जेल जाना पड़ता। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसी स्थिति पर पहुँच गया था जब सरकार द्वारा उसका दबाया जाना लाजिमी हो गया था, नहीं तो वह उस पर अपना अंकुश जमा लेता। इसका मतलब यह था कि हमारा आंदोलन उस अवस्था को प्राप्त कर चुका था, जबकि उसके हर समय अवैध घोषित किये जाने की संभावना थी और एक आंदोलन के रूप में उसका, सविनय अवज्ञा को बंद करने पर भी, वापस लिया जाना असम्भव था। अवज्ञा आंदोलन को जारी रखने से कोई व्यावहारिक अंतर पहीं पड़ता। असली महत्व तो नैतिक विरोध का था। नये विचारों के प्रचार में जितनी आसानी संघर्ष के समय पड़ सकती थी उतनी संघर्ष के स्थगित

कर देने पर और पतन आरम्भ हो जाने पर नहीं। इसलिए संघर्ष का एकमात्र दूसरा विकल्प यह था कि ब्रिटिश सरकार से समझौता कर लिया जाता और कौंसिलों में वैधानिक ढंग से कार्य किया जाता।

स्थिति बड़ी कठिन थी और विकल्प का निश्चय करना आसान नहीं था। अपने साथियों का यह मानसिक संघर्ष मैं खूब समझता था; क्योंकि मुझे स्वय उनका सामना करना था। किन्तु मैंने वहाँ देखा—जैसा कि भारतवर्ष के अन्य स्थानों में देखा था—कि कुछ लोग उच्च समाजवादी सिद्धांतों को अपनी निष्क्रियता की आड़ बनाना चाहते थे। यह देखकर झुंझलाहट होती थी कि जो लोग स्वयं कुछ नहीं करते थे, वे दूसरे लोगों को, जिन्होंने आंधी और तूफान के समय संघर्ष का बोझ अपने कंधों पर वहन किया था, प्रतिगामी कहकर पुकारते हैं। उनकी हरिजन-संबंधी कार्रवाइयों तक ने कट्टर हिन्दूधर्म पर कोमलता के साथ किन्तु दृढ़तापूर्वक आघात किया है और उसकी जड़ तक को हिला दिया है। सभी सनातनियों ने उनका मिलकर विरोध किया है और वे उन्हें अपना सबसे खतरनाक दुश्मन मानते हैं, यद्यपि गांधीजी उनके साथ अब भी बड़ी नम्रता और शिष्टता के साथ व्यवहार करते हैं। अपने ढंग पर वह ऐसे शक्तिशाली तत्त्वों का प्रसार करने में निपुण हैं जो पानी की लहरों की तरह फैल जाते हैं और लाखों को प्रभावित करते हैं।

गांधीजी का समाजवाद

वह समाजवाद—विशेष रूप से मार्क्सवाद—पर शंका भी करते हैं, क्योंकि उसका हिंसा से साथ है। 'वर्गयुद्ध' शब्द में ही संघर्ष और हिंसा की दुर्गन्ध आती है, इसलिए वह उनके लिए घृणास्पद है। इसके अलावा वह जनता के जीवन-मान को एक अत्यंत साधारण क्षमता से आगे बढ़ाना नहीं चाहते, क्योंकि उच्च जीवनमान और अवकाश से वासना तथा पाप की उत्पत्ति हो सकती है। कुछ थोड़े-से संपन्न लोगों का ही वासना में फँसना काफी बुरा है, उनको संख्या को बढ़ाना तो और

भी बुरा होगा।

यह दृष्टिकोण समाजवादी या पूँजीवादी दृष्टिकोण से उतना ही भिन्न है जितना किसी अन्य दृष्टिकोण से हमारा यह कहना कि अगर विशेष हितवाले लोग हस्तक्षेप न करें तो हम आज विज्ञान और औद्योगिक कला की सहायता से सभी लोगों को अन्न, वस्त्र और शरण दे सकते हैं और उनका जीवन-मान बहुत ऊँचा उठा सकते हैं, गांधीजी को अधिक नहीं रुचता, क्योंकि एक निश्चित सीमा से आगे उन्हें इन बातों की चिंता ही नहीं। इसलिए समाजवाद में दिये जानेवाले आश्वासन उन्हें आकर्षित नहीं करते और पूँजीवाद भी उन्हें केवल अंशतः सह्य है, क्योंकि वह बुराई को एक स्थान में केन्द्रित कर देता है। वह दोनों प्रणालियों को नापसंद करते हैं, किंतु पूँजीवाद को इन दोनों में कम बुरा मानकर उसे अस्थायी रूप से सहन कर लेते हैं। वह एक ऐसी वस्तु है, जो आज विद्यमान है और जिसकी विद्यमानता उन्हें स्वीकार करनी ही है।

हो सकता है कि गांधीजी पर इस प्रकार के मन्तव्यों का आरोप करने में मैं भूल कर रहा हूँ किंतु वह निश्चय ही इसी ढंग से विचार करते हैं और उनके भाषणों में जो आत्म-विरोध और भ्रमजाल हमें कष्ट देते हैं उनका असली कारण यह है कि वह एक बिल्कुल ही भिन्न सूत्र से विचार करना आरम्भ करते हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग सदा बढ़ते हुए आराम को और फुर्सत को अपना आदर्श मान लें, बल्कि वह यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, बुरी आदतें छोड़ें, अपने को वासनाओं में कम-से-कम फँसायें और इस प्रकार अपना वैयक्तिक तथा आत्मिक विकास करें। जो लोग जनता की सेवा करना चाहते हैं उन्हें जनता को ऊपर उठाने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी स्वयं अपने को उनके स्तर तक उतारने और उनके समान आधार पर मिलने-जुलने की। ऐसा करने में वे उन्हें अनायास थोड़ा-बहुत ऊपर उठा लेंगे। यही उनकी समझ में सच्चा जनतंत्र है।

: ६ :

युद्धकाल

पर्ल बन्दरगाह और उसके बाद की आकस्मिक घटनाओं ने देश में एक नयी तनातनी पैदा कर दी और एक नया दृश्य उपस्थित कर दिया। तनाव के इस नये वातावरण में कांग्रेस-कार्यसमिति की फौरन बैठक बुलायी गयी। उस समय तक जापानी बहुत ज्यादा नहीं बढ़े थे, किंतु अनेक बड़ी-बड़ी और विस्मयकारी दुर्घटनाएँ घट चुकी थीं। युद्ध अब दूर का दृश्य नहीं रह गया था और भारत की ओर बढ़ता हुआ उसपर भी गहरा प्रभाव डालने लगा था। इस संकटजनक स्थिति में कुछ सार्थक कार्य करने की आकांक्षा कांग्रेसियों में तीव्र हो उठी और नयी परिस्थिति में जेल जाने की बात निरर्थक प्रतीत हुई। किंतु जबतक किसी सम्मान-पूर्ण सहयोग का रास्ता न खुलता और जनता को क्रियाशील बनने के लिए किसी निश्चित प्रेरणा का अनुभव न कराया जाता तबतक हम क्या कर सकते थे? केवल बढ़ते हुए संकट का नकारात्मक भय काफी नहीं था।

पहले जो कुछ भी हो चुका था उसके बावजूद हम युद्ध, विशेष रूप से भारत के रक्षा-कार्य में योग देने को उत्सुक थे—बशर्ते कि एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाय, जिसकी सहायता से हम देश के दूसरे तत्त्वों का सहयोग प्राप्त कर सकें और जनता को यह अनुभव करा सकें कि हमारा कार्य एक राष्ट्रीय कार्य है और हमपर हमें दास बनाने वालों द्वारा नहीं लादा गया है। इस व्यापक मसले पर कांग्रेसियों और अधिकांश दूसरे लोगों में भी मतभेद नहीं था, किंतु एकाएक एक महत्व-

पूर्ण सद्धांतिक मतभेद उठ खड़ा हुआ। बाहरी युद्ध के सम्बंध में भी गांधीजी अहिंसा के अपने बुनियादी सिद्धांत को त्यागने को तैयार नहीं थे। युद्ध की निकटता उनके लिए एक चुनौती और उनके विश्वास के लिए एक कसौटी बन गयी। इस अवसर पर असफल होने का अर्थ यह था कि या तो अहिंसा का सिद्धांत और कार्यक्रम उतना व्यापक और आधारभूत नहीं था जितना कि गांधीजी उसे समझते आये थे या उसका त्याग करने या उसके साथ समझौता कर लेने में वह भूल करते थे। वह अपने सम्पूर्ण जीवन के उस विश्वास को नहीं त्याग सकते थे जिस पर कि उनका सारा कार्य आधारित था। उन्होंने महसूस किया कि उन्हें अहिंसा के आवश्यक परिणामों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध

इसी तरह की कठिनाई और संघर्ष पहली बार सन् १९३८ में म्यूनिख-संकट के समय उत्पन्न हुई थी, जबकि युद्ध सिर पर खड़ा था। उस समय मैं यूरोप में था और वादविवाद में भाग नहीं ले सका था। किंतु संकट के हटने और युद्ध के स्थगित हो जाने से वह कठिनाई दूर हो गयी थी। सितम्बर १९३९ में जब युद्ध सचमुच छिड़ा तो ऐसा कोई सवाल नहीं उठा और न हमने उसपर विचार ही किया। किंतु सन् १९४० की गर्मी के अंतिम दिनों में महात्मा गांधी ने यह बात हमारे सामने फिर से स्पष्ट कर दी कि वह हिंसात्मक युद्ध में भागीदार नहीं बनेंगे और कांग्रेस द्वारा भी ऐसी ही प्रवृत्ति का अपनाया जाना पसंद करेंगे। सशस्त्र और हिंसात्मक युद्ध में व्यावहारिक सहायता देने के अलावा वह नैतिक या और दूसरी हर तरह की सहायताएँ देने के लिए तैयार थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस यह घोषणा कर दे कि वह स्वतन्त्र भारत के लिए भी अहिंसा के ही सिद्धांत का समर्थन करती है। वह जानते थे कि देश में—यहाँ तक कि कांग्रेस में भी—ऐसे तत्त्व हैं जिनका

अहिंसा पर विश्वास नहीं। उन्हें इस बात का भय था कि सम्भव है रक्षात्मक प्रश्नों के उठने पर स्वतन्त्र भारत की सरकार अहिंसा के सिद्धांत को त्याग दे और सैनिक, समुद्री तथा हवाई शक्ति की वृद्धि करे। फिर भी वह चाहते थे कि यदि सम्भव हो तो कांग्रेस कम-से-कम अहिंसा की पताका को ऊँचा उठाये रखे और जनता को शान्तिपूर्ण प्रणाली से सोचने तथा कार्य करने की शिक्षा दे। भारत का सैनीकरण होते देखना उन्हें भयावह प्रतीत होता था। वह स्वप्न देखा करते थे कि भारत अहिंसा का प्रतीक और दृष्टांत बनेगा और अपने आदर्श से दूसरे देशों को भी युद्ध तथा हिंसात्मक कार्यों से मुक्त रखेगा। इसलिए वह चाहते थे कि अगर समस्त भारत ने उनके इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं भी किया है तब भी परीक्षा का समय आने पर कांग्रेस को उसका परित्याग नहीं करना चाहिए।

कम बुराई

भारत में ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं, जो गांधीजी क अहिंसा के सिद्धांत या उनके आर्थिक मतों को पूरी तरह से मानते हों, फिर भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जिनपर इन सिद्धांतों और मतों का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। साधारणतः धार्मिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने राजनैतिक और दैनिक जीवन की समस्याओं के नैतिक समाधान पर जोर दिया है। धार्मिक पृष्ठभूमि का प्रभाव तो उन्हीं पर पड़ा है, जिनकी उधर प्रवृत्ति थी, किंतु नैतिक दृष्टिकोण ने दूसरों को प्रभावित किया है। कितने ही लोगों के नैतिक और सदाचार-संबंधी कार्यों का स्तर ऊँचा उठ गया है और उनसे भी अधिक लोगों को कम-से-कम नीति और सदाचार के दृष्टिकोण से सोचने पर विवश होना पड़ा है और यह मानना पड़ा है कि विचार का कार्यों और व्यवहारों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। राजनीति अब केवल समयानुकूलता और अवसरवादिता नहीं रह गयी है, जैसा कि वह

साधारणतः सभी जगह रही है; बल्कि अब सोचने और कार्य करने से पहले लगातार एक नैतिक संघर्ष चलता रहता है।

इन विभिन्न दिशाओं में गांधीजी का प्रभाव सारे भारत में फैल गया है और अपनी छाप छोड़ गया है। किंतु उनके भारत के सर्वप्रमुख और सर्वोच्च नेता बनने का कारण उनका अहिंसात्मक या आर्थिक सिद्धांत नहीं है। भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए वह उस भारत के प्रतीक हैं जिसने स्वतंत्र होने का दृढ़ संकल्प कर रखा है। भारत के अनेकानेक लोग उनसे सैकड़ों बातों पर असहमत क्यों न हों, वे उसकी आलोचना क्यों न करते हों और कुछ मसलों पर उनसे जुदे भी क्यों न हो जाते हों, भारत की स्वतन्त्रता की बाजी लग जाने पर कार्य और संघर्ष के समय सब लोग फिर से उन्हें घेर लेते हैं और उनकी ओर अपने अनिवार्य नेता के रूप में निहारते हैं।

अहिंसा का प्रश्न

सन् १९४० में जब गांधीजी ने युद्ध और स्वतन्त्र भारत के भविष्य के संबंध में अहिंसा का प्रश्न उठाया तो कांग्रेस-कार्यसमिति ने उसका पूरी तरह से सामना किया। समिति के सदस्यों ने साफ कह दिया कि जितनी दूर आप हमें ले जाना चाहते हैं उतनी दूर जाने में हम समर्थ नहीं हैं और न हम विदेशी मामलों में अहिंसा के प्रयोग के लिए देश या कांग्रेस को वचनबद्ध ही कर सकते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि इस प्रश्न पर गांधीजी और कार्यसमिति में एक निश्चित और स्पष्ट फूट पड़ गयी। दो महीने बाद फिर से विचार-विनिमय करने पर एक सर्व-सम्मत युक्ति निकली जिसे बाद में कांग्रेस-महासमिति ने अपने एक प्रस्ताव का अंग बना लिया। यह युक्ति गांधीजी की प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। वह तो केवल इस बात का प्रति-निधित्व करती है, जिसका उन्होंने इस संबंध में कांग्रेस द्वारा कहा जाना बड़ी अनिच्छा के साथ स्वीकार कर लिया था। उस समय तक ब्रिटिश

सरकार कांग्रेस के उस प्रस्ताव को ठुकरा चुकी थी, जिसमें उसने राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के आधार पर युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने की तत्परता व्यक्त की थी। किसी-न-किसी तरह का संघर्ष होनेवाला था, जैसा कि स्वाभाविक था और गांधीजी और कांग्रेस ने एक-दूसरे की तरफ देखा और उनमें आपसी गतिरोध को दूर करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई।

दूसरी फूट

कांग्रेस का भीतरी संकट सन् १९४० में दूर हो गया और उसके बाद जो साल आया उसमें कांग्रेसियों की धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुईं। किंतु जब दिसम्बर, १९४१ में गांधीजी ने पूर्ण अहिंसा का आग्रह किया तो फिर वही संकट उत्पन्न हो गया। एक बार फिर लोगों में फूट और मतभेद उत्पन्न हो गया और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा कितने ही दूसरे लोगों ने गांधीजी के दृष्टिकोण को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। स्पष्ट था कि इस मामले में कांग्रेस सामूहिक रूप में गांधीजी से असहमत थी। उसमें गांधीजी के कुछ कट्टर अनुयायी भी शामिल थे। परिस्थितियों और तेजी से घटनेवाली नाटकीय घटनाओं ने हम सब पर—यहाँ तक कि गांधीजी पर भी—प्रभाव डाला और यद्यपि उन्होंने कांग्रेस के मत को स्वीकार नहीं किया तथापि उससे अपनी बात मनवाने का आग्रह छोड़ दिया।

इसके बाद गांधीजी ने इस प्रश्न को कांग्रेस में कभी नहीं उठाया। बाद में जब सर स्टेफर्ड क्रिप्स अपने प्रस्ताव लेकर भारत आये तो अहिंसा का कोई सवाल ही नहीं था। उनके प्रस्तावों पर शुद्ध राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार किया गया। इसके बाद के महीनों में—अगस्त, १९४२ तक—गांधीजी देशप्रेम और स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर कांग्रेस के युद्ध में शामिल तक होने के लिए तैयार हो गये, बशर्ते कि भारत को स्वतंत्र बना दिया जाय। उनके लिए यह एक अद्भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन था, जिसके कारण उनके मस्तिष्क और उनकी

ग्रात्मा दोनों को पीड़ा हुई। उनकी ग्रन्तरात्मा में ग्रहिंसा के सिद्धांत ग्रौर भारत की स्वतंत्रता के बीच जो संघर्ष चल रहा था उसमें स्वतंत्रता का पक्ष भारी रहा। ग्रहिंसा उनकी जीवनी-शक्ति थी, उनके जीवन-यापन का ग्रर्थ थी ग्रौर स्वतंत्रता उनकी सबसे बड़ी, सबसे उत्कट ग्राकांक्षा थी। किंतु स्वतंत्रता की ग्रोर ग्रधिक झुकाव का यह ग्रर्थ नहीं था कि ग्रहिंसा में उनका विश्वास कम हो गया था। हाँ, इसका यह ग्रर्थ ग्रवश्य था कि वह इस बात के लिए तैयार हो गये थे कि युद्ध में कांग्रेस ग्रहिंसा का प्रयोग न करे। व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ने दृढ़-प्रतिज्ञ देवदूत पर विजय पायी।

युद्ध भारत के निकटतर

युद्ध के भारत के निकट ग्रा जाने से गांधीजी बड़े विचलित हुए। इस नयी स्थिति के साथ ग्रहिंसा की नीति ग्रौर कार्यक्रम का मेल मिलाना ग्रासान नहीं था। ग्राक्रमण के लिए ग्राती हुई किसी सेना के सामने या दो विरोधी सेनाग्रों के बीच सविनय ग्रवज्ञा का कोई सवाल भी क्या हो सकता था? चुप बैठे रहने या ग्राक्रमण को स्वीकार करने का भी कोई प्रश्न नहीं था। तो फिर क्या किया जाय? ऐसे ग्रवसर के लिए कांग्रेस ग्रौर गांधीजी के ग्रपने साथियों ने भी ग्रहिंसा को ग्रस्वीकार कर दिया था ग्रौर उसे ग्राक्रमण के सशस्त्र विरोध का संकल्प नहीं माना था। स्वयं गांधीजी ने भी इतना तो मान लिया था कि उन्हें ऐसा करने का ग्रधिकार है। फिर भी वह दुःखी थे ग्रौर व्यक्तिगत रूप से किसी हिंसात्मक कार्यक्रम में भाग नहीं ले सकते थे। किन्तु वह एक व्यक्ति से कहीं ग्रधिक थे। राष्ट्रीय ग्रांदोलन में उन्हें किसी ग्रधिकारी का पद प्राप्त रहा हो या न रहा हो, उसमें उनका स्थान निश्चय ही ग्रद्वितीय ग्रौर सर्वप्रमुख था ग्रौर उनके वचनों का बहुत बड़ी जनसंख्या पर प्रभाव पड़ता था।

गांधीजी का भारत ग्रौर भारतीय जनता का ज्ञान बड़ा गहरा है।

यद्यपि उन्हें इतिहास में इतनी रुचि नहीं है और यद्यपि उनमें उस ऐतिहासिक चेतना का अभाव है जो कुछ लोगों में होती है तथापि वह भारतीय जनता के ऐतिहासिक उद्गमों के प्रति पूर्णतः सचेत हैं और उन्हें उनकी निकट जानकारी भी है। सामयिक घटनाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान है और उनका वह सावधानी के साथ अनुशीलन करते हैं, यद्यपि अनिवार्य रूप से अपना ध्यान आजकल की भारतीय समस्याओं पर ही केन्द्रित रखकर निस्सार बातों को छोड़ किसी समस्या या स्थिति के सार को समझ लेने की उनमें अपूर्व क्षमता है। वह सभी चीजों को उन के नैतिक पहलू से जाँचते हैं, इसलिए उन्हें ये चीजें विस्तृत रूप में दिखाई दे जाती हैं और वह उन्हें निश्चयपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। बर्नार्ड शा ने कहा कि गांधाजी ने युक्ति-संबंधी चाहे कितनी भी भूलें की हों, उनकी आधारभूत युद्ध-नीति अब भी ठीक ही होती है। किन्तु अधिकांश लोग दूर की बातें नहीं सोचते। वे उपस्थित क्षण से कुशलता-पूर्वक लाभ उठाने में ही ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

जब कि भारतवासियों के मस्तिष्क में यह संघर्ष चल रहा था और निराशा की भावना बढ़ती जा रही थी, गांधीजी ने कई लेख लिखे जिनसे लोगों की विचारधारा को एकाएक नयी दिशा मिली या, जैसा कि अक्सर होता है, इन लेखों से उनके अनिश्चित बिचारों को एक निश्चित रूप मिला। उस संकटजनक स्थिति में निष्क्रिय रहना या जो कुछ भी हो रहा था उसके आगे सिर झुकाना गांधीजी को असह्य हो गया था। उस स्थिति का सामना करने का एकमात्र उपाय यह था कि भारत की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली जाय और मित्रराष्ट्रों के सहयोग से आक्रमण और युद्ध का मुकाबला किया जाय। इस स्वीकृति के न मिलने पर प्रचलित प्रणाली को चुनौती देने और जिस तन्द्रा में पड़कर जनता अशक्त व हर तरह के आक्रमण का आसान शिकार बन गयी

थी उससे उसे उठाने के लिए कुछ-न-कुछ करना जरूरी था।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार

युद्ध के पिछले तीन साल में हमने जानबूझ कर तंग न करने की नीति का अनुसरण किया था और अगर वैसा कुछ किया भी था तो केवल सांकेतिक विरोध के रूप में। सन् १९४०-४१ में जब हमारे देश के ३० हजार प्रमुख स्त्री-पुरुष जेलों में ठूंस दिये गये तो इस सांकेतिक विरोध ने विशाल रूप धारण कर लिया। यह जेल-यात्रा भी कुछ चुने हुए व्यक्तियों ने ही की। सामूहिक हलचलें और सरकारी व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की गयी। हम इन बातों को दुहरा नहीं सकते थे और इनके अलावा जो कुछ भी करते उसका भिन्न ढंग का और अधिक कारगर होना अनिवार्य था। क्या इससे भारत के सीमांत पर होनेवाले युद्ध में बाधा नहीं पड़ती और दुश्मन को प्रोत्साहन नहीं मिलता ?

हमारे सामने यह स्पष्ट कठिनाइयाँ थीं और उनपर हमने गांधीजी के साथ विस्तारपूर्वक विचार-विनियम किया, किंतु न हम उन्हें अपने मत के अनुकूल बना सके, न वह हमें अपने मत की ओर खींच सके। कठिनाइयाँ बनी रहीं और हम कुछ करते या न करते, हमें हर स्थिति में संकट दिखाई दे रहा था। अतः हमें उनका संतुलन करना और उनमें से कम बुरे मार्ग को अपनाना था। हमारे पारस्परिक विचार-विनिमय से बहुत-सी बातें, जो पहले अनिश्चित और धुंधली थीं, स्पष्ट हो गयीं और जिन अंतर्राष्ट्रीय तत्त्वों की ओर गांधीजी का ध्यान आकर्षित किया गया उनमें से अनेक को उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें परिवर्तन दिखाई दिया। उन्होंने स्वयं इन अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों पर जोर दिया और भारत की समस्या पर एक अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया। फिर भी उनकी बुनियादी प्रवृत्ति बदली नहीं। अंग्रेजों की स्वेच्छाचारी और दमनकारी नीति के सामने निश्चेष्ट भाव से आत्मसमर्पण

करने की भावना का विरोध करने तथा उसे चुनौती देने के लिए कुछ करने की उनकी उत्कट अभिलाषा बनी रही। उनका कहना था कि इस समय घुटने टेकने का अर्थ यह होगा कि भारत का आत्मिक बल टूट जायगा और युद्ध चाहे कोई भी रूप धारण करे और उसका चाहे कुछ भी अंत हो लोग दासों जैसा व्यवहार करने लगेंगे और स्वतन्त्रता बहुत समय तक अलभ्य हो जायगी । इसका एक अर्थ यह भी होगा कि आक्रमणकारी के सामने सिर झुकाना पड़ेगा और अस्थायी रूप से उसकी सैनिक हार होने या उसके पीछे हटने पर भी हम विरोध जारी नहीं रख सकेंगे। इसका अर्थ जनता का पूर्ण नैतिक पतन और उसके उस बल का ह्रास होगा जो उसने एक-चौथाई सदी तक लगातार स्वतंत्रता-संग्राम लड़ते रहने के बाद अर्जित किया है। इसका यह भी अर्थ होगा कि दुनिया भारत की आजादी की माँग को भूल जायगी और युद्ध के बाद जो समझौता होगा वह पुरानी साम्राज्यवादी प्रेरणाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से प्रभावित होगा। चूंकि गांधीजी की भारत को स्वतंत्र देखने की अभिलाषा बड़ी उत्कट थी, इसलिए भारत उनके लिए केवल एक प्रिय मातृभूमि ही नहीं था, वह संसार के सभी उपनिवेश-निवासियों और पददलितों का प्रतीक था और थी वह कसौटी जिसपर कसकर ही किसी भी विश्वनीति की जांच की जा सकती थी। यदि भारत परतंत्र रहता तो दूसरे उपनिवेश और दास-राष्ट्र भी गुलामी की अपनी वर्तमान अवस्था में पड़े रहते और युद्ध निरर्थक सिद्ध होता। युद के नैतिक आधार को बदलना आवश्यक था।

आक्रमणकारी का विरोध

भारत में जनता की उदासीन निश्चेष्टता को विरोध और आत्म-समर्पण न करने की भावना में परिवर्तित करना ही ज्यादा अच्छा था। यद्यपि आरम्भ में आत्मसमर्पण न करने की इस भावना का लक्ष्य ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारितापूर्ण आदेश ही होते, तथापि बाद

में उसका प्रयोग ग्राक्रमणकारी के विरोध में किया जा सकता था। किसी एक के सामने सिर झुकाने ग्रौर गुलामी स्वीकार करने का परिणाम यह होता कि दूसरों के सामने भी ऐसा ही करना पड़ता ग्रौर इस प्रकार ग्रपना ग्रपमान ग्रौर पतन होता।

हम इस प्रकार के सभी तर्कों से परिचित थे। हम उनमें विश्वास करते थे ग्रौर स्वयं हमने उनका ग्रक्सर प्रयोग भी किया था। किंतु दुःख की बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार की नीति ने इस जादू को पूरा होने से रोक दिया था ग्रौर भारतीय समस्या को ग्रस्थायी रूप से युद्धकाल तक के लिए सुलझाने की हमारी सारी चेष्टाएं ग्रसफल हो चुकी थीं ग्रौर बराबर कहने पर भी ब्रिटिश सरकार ने ग्रपने युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा नहीं की थी। यह निश्चित था कि ग्रागे भी हम इस प्रकार के जो प्रयत्न करेंगे वे निष्फल रहेंगे। तो फिर क्या करना था? ग्रगर हमारे ग्रांदोलन को संघर्ष का रूप लेना था तो नैतिक ग्रौर दूसरी दृष्टियों से वह चाहे कितना ही उचित क्यों न होता इसमें सन्देह नहीं था कि ऐसे समय में जब कि भारत पर ग्राक्रमण का काफी खतरा था उस संघर्ष से भारत के युद्ध-प्रयत्न में काफी हस्तक्षेप होता। हम लोग इस सत्य से बच नहीं सकते थे। फिर भी कितनी ग्रजीब बात थी कि इसी खतरे के कारण हमारे मस्तिष्क में उथल-पुथल हुई थी। हम इन बातों के मौन दर्शक नहीं बन सकते थे ग्रौर ग्रपने देश को ऐसे व्यक्तियों द्वारा कुप्रबन्धित या नष्ट होते नहीं देख सकते थे जो हमारी दृष्टि में ग्रयोग्य ग्रौर जनता के विरोध के बोझ को वहन कर सकने में बिलकुल ग्रसमर्थ थे। हमारी सारी ग्रवरुद्ध शक्ति ग्रौर स्फूर्ति बाहर निकलने—कुछ कार्य करने—का मार्ग चाहती थी।

गांधीजी बूढ़े होते जा रहे थे। वह सत्तर को पार कर चुके थे ग्रौर निरन्तर कार्य तथा कड़े मानसिक एवं शारीरिक श्रम ने उनकी काया को दुर्बल बना दिया था। किंतु उनमें ग्रब भी पौरुष था ग्रौर वह

महसूस करते थे कि अगर इस समय मैंने परिस्थितियों के सामने सिर झुका दिया और जिस वस्तु को मैं सबसे बहुमूल्य समझता हूं उसे प्रकाश में लाने के लिए कुछ नहीं करता तो मेरे जीवन का सारा कार्य ही निरर्थक हो जायेगा। भारत और सभी दूसरे शोषित देशों की स्वतंत्रता के लिए उनके हृदय में जो प्रेम था उसने उनके कट्टर अहिंसावाद तक पर विजय पायी। पहले जब कांग्रेस ने देश की रक्षा और राज्य के संकटकालीन कार्यों में अहिंसा की नीति का पालन न करने का निश्चय किया था तो गांधीजी ने उसे बड़ी अनिच्छा और असंतोष के साथ स्वीकृति दी थी और उससे वह अपने को सदा अलग रखते आये थे। उन्होंने देखा कि इस मामले में इस तरह की विविधतापूर्ण नीति से ब्रिटेन और अमरीका से समझौता करने में बाधा पड़ेगी। इसलिए उन्होंने और आगे कदम बढ़ाया और कांग्रेस की ओर से खुद एक प्रस्ताव रखा, जिसमें इस बात की घोषणा की गयी कि स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार का पहला काम स्वतंत्रता के पक्ष में और आक्रमणकारी कार्यों के विरोध में अपने समस्त महान् साधनों को जुटा देना होगा और अपनी सशस्त्र तथा दूसरी तरह की समस्त शक्तियों से भारत की रक्षा में संयुक्त राष्ट्रों के साथ सहयोग करना होगा। इस प्रकार अपने को वचनबद्ध कर लेना उनके लिए आसान नहीं था, किंतु भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में आक्रमणकारी का विरोध करने में समर्थ बनाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का समझौता कर लेने की उनकी आकांक्षा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने यह कड़वी घूंट पी ही ली थी।

जो सैद्धांतिक और अन्य भेद हममें से कुछ लोगों को अक्सर गांधीजी से अलग रखते आये थे, उनमें से अधिकांश अदृश्य हो गये। किंतु अब यह भी बड़ी कठिनाई रह गयी कि हम कोई भी काम करें उससे युद्ध-प्रयत्न में बाधा अवश्य पड़ेगी। हमें यह जानकर आश्चर्य

हुआ कि गांधीजी तब भी अपने इसी विश्वास पर अटल थे कि ब्रिटिश सरकार से समझौता संभव है और उन्होंने कहा कि इसे पूर्ण करने के लिए वह भरसक प्रयत्न करेंगे। इसलिए यद्यपि वह 'कार्य करो' 'कार्य करो' की रट लगाते रहे तथापि उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की और न यही संकेत किया कि वह क्या करना चाहते थे।

भारत की मन:स्थिति में परिवर्तन

इस प्रकार जब हम शंका और तर्क-वितर्क कर रहे थे, देश की मन:स्थिति बदल गयी और उदासीन निश्चेष्टता के गर्त से निकलकर वह उत्तेजना और आशा के क्षेत्र में पहुंच गयी। घटनाएँ कांग्रेस के निर्णय या प्रस्ताव की प्रतीक्षा में नहीं रहीं, गांधीजी के वक्तव्यों और भाषणों ने उन्हें आगे बढ़ा दिया था और वे अपने ही बल पर आगे बढ़ रही थीं। यह बात स्पष्ट थी कि गांधीजी ठीक हों या गलत, उन्होंने जनता की तत्कालीन मनोदशा को पाषाण जैसा बना दिया था। उसमें एक प्रकार की व्यग्रता थी— एक प्रकार की भावुकतापूर्ण प्रेरणा, जिसने तर्क और विचारशक्ति को तथा परिणामों पर शांत रूप से विचार करने की आवश्यकता को गौण बना दिया था। इन परिणामों की अवहेलना नहीं की गयी और यह बात हमने समझ ली थी कि किसी काम में सफलता मिले या न मिले, मानवीय यातना के रूप में जो कीमत चुकायी जायगी वह बहुत बड़ी होगी। किंतु मानसिक पीड़ा के रूप में जो कीमत चुकायी जा रही थी वह कम बड़ी नहीं थी और उससे बचने की कोई सूरत नहीं दिखाई दे रही थी। ज्यादा अच्छा यही था कि दुर्भाग्य का कमजोर शिकार बनने की बजाय हम कार्य के अथाह सागर में कूद पड़ें। यह किसी राजनीतिज्ञ का समाधान नहीं था, किंतु एक ऐसे राष्ट्र का समाधान था जो निराशा और परिणामों की ओर से लापरवाह हो गया था।

जनता के साथ-साथ सरकार की भी सरगर्मी बढ़ी। इसके लिए किसी प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं थी ; क्योंकि यह तो सर-

कार की स्वाभाविक सरगर्मी थी, उसके कार्य करने का आम तरीका था—एक गुलाम मुल्क पर सत्ता जमाये बैठी एक विदेशी सरकार का ढंग था। ऐसा मालूम होता था जैसे वह अपनी इच्छा का विरोध करने-वाले, इस देश के सभी तत्त्वों को सदा के लिए कुचल देने के इस अवसर का स्वागत कर रही हो और तदनुसार उसने अपने को इसके लिए तैयार कर लिया।

समझौते के लिए अपील

घटनाचक्र तेजी से चलता रहा। फिर भी ताज्जुब है कि जो गांधीजी इतना कहते थे कि हमें कुछ-न-कुछ करना चाहिए, जिससे भारत की मर्यादा की रक्षा हो और उसे स्वतंत्र बनाने तथा एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में आक्रमण के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई में सहयोग देने का अधिकार मिले, वही इस कार्य की रूपरेखा के संबंध में कुछ नहीं बोले। कार्य का शांतिपूर्ण होना तो जरूरी था ही, किंतु इसके अलावा गांधीजी ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते की संभावना पर ज्यादा जोर देने लगे और उनसे लिखापढ़ी करके समझौते का रास्ता निकालने के लिए अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने की अपनी इच्छा प्रकट करने लगे। कांग्रेस-महासमिति के सामने उन्होंने जो अंतिम भाषण दिया था, उसमें उन्होंने समझौते के लिए हार्दिक अपील की थी और इस संबंध में वाइसराय से लिखा-पढ़ी करने के संकल्प की घोषणा की थी। इसलिए न तो उन्होंने और न कांग्रेस ने ही निजी या सार्वजनिक रूप से किसी प्रकार का निर्देश दिया, सिवा यह कहने के कि जनता को हर तरह की स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए और शांतिपूर्ण तथा अहिंसात्मक कार्य की नीति का पालन करना चाहिए। यद्यपि गांधीजी को अब भी गतिरोध के दूर होने की कोई सूरत निकल आने की आशा थी, तथापि औरों में वह आशावादिता बहुत ही कम थी। इस बीच में जो घटनाएँ हुई थीं, वे भी अनिवार्य रूप से संघर्ष की ओर ही इशारा कर रही थीं।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

७ और ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में कांग्रेस-महासमिति ने सार्वजनिक रूप से उस प्रस्ताव पर विचार किया, जो 'भारत छोड़ो-आंदोलन' के नाम ने पुकारा जाता है। वह एक लम्बा और विस्तृत प्रस्ताव था, जिसमें भारत की स्वतंत्रता को फौरन स्वीकार करने और केवल भारत के हित में नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों के हित की सफलता के लिए भी भारत से ब्रिटिश राज उठा लेने के लिए विचारपूर्ण तर्क दिये गये थे। उसमें कहा गया था कि भारत में ब्रिटिश राज के जारी रहने से भारत का पतन हो रहा है, वह कमजोर बनता जा रहा है और उसकी अपनी रक्षा करने तथा विश्व-स्वतंत्रता के पक्ष में योग देने की शक्ति दिन-पर-दिन घटती जा रही है।···साम्राज्य का स्वामी बनना शासकों की शक्ति को बढ़ाने के बजाय उनके लिए एक बोझ और एक शाप बन गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद का आदर्श उदाहरण भारत ही सारी समस्या का केन्द्र बन गया है; क्योंकि भारत की स्वतंत्रता की ही कसौटी पर ब्रिटेन और अमरीका परखे जायेंगे और उसीसे एशिया तथा अफ्रीका की जनता की आशा तथा उत्साह प्राप्त होगा। प्रस्ताव में विभिन्न दलों के सहयोग से निर्मित एक ऐसी अस्थायी सरकार की स्थापना का सुझाव रखा गया था जो जनता के सभी प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व करे और जिसका मुख्य कार्य अपनी समस्त सशस्त्र और अहिंसात्मक शक्तियों और मित्रराष्ट्रों के सहयोग से भारत की रक्षा करना तथा आक्रमण का विरोध करना होगा। यह सरकार विधान-परिषद् की योजना करेगी और वह विधान-परिषद् भारत के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत किये जाने योग्य विधान बनायेगी। यह विधान एक संघीय विधान होगा, जिसकी विभिन्न इकाइयों को अधिक-से-अधिक स्वराज्य और अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे। "स्वतंत्रता भारत को इस योग्य बना देगी कि वह जनता की संयुक्त इच्छा, शक्ति और बल की सहायता

से ग्राक्रमण का सफलतापूर्वक विरोध कर सके ।"

प्रस्ताव में कहा गया था कि भारत की यह स्वतंत्रता एशिया के सभी दूसरे देशों की स्वतंत्रता की प्रतीक ग्रौर भूमिका होनी चाहिए । इसके ग्रलावा सभी स्वतंत्र राष्ट्रों का एक विश्व-संघ बनाने का प्रस्ताव रखा गया था ग्रौर कहा गया था कि इसका सूत्रपात संयुक्त राष्ट्र करे ।

महासमिति ने ग्रपने प्रस्ताव में यह ग्राश्वासन दिया था कि वह चीन ग्रौर रूस की रक्षा के मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट डालना नहीं चाहती; क्योंकि उनकी स्वतंत्रता कीमती है ग्रौर उनकी रक्षा ग्रवश्य होनी चाहिए (उस समय सबसे ग्रधिक खतरा चीन ग्रौर रूस को ही था) । महासमिति ने संयुक्त राष्ट्रों की रक्षात्मक शक्ति को भी ग्राघात न पहुँचाने का ग्राश्वासन दिया था, किंतु कहा था—"लेकिन खतरा इन दोनों देशों के साथ-ही-साथ भारत के लिए भी बढ़ता जा रहा है ग्रौर इस ग्रवसर पर किसी विदेशी शासक के ग्रागे घुटने टेकने ग्रौर निश्चेष्ट बने रहने से न केवल भारत का पतन हो रहा है ग्रौर उसकी ग्रपनी रक्षा करने व ग्राक्रमण का विरोध करने की शक्ति कम होती जा रही है, बल्कि निश्चेष्टता से बढ़ते हुए संकट का सामना करने में कोई भी मदद नहीं मिल सकती ग्रौर न संयुक्त राष्ट्रों की ही कोई सेवा हो सकती है ।"

विश्व-स्वतंत्रता के हित में समिति ने एक बार फिर ब्रिटेन ग्रौर संयुक्त राष्ट्रों से ग्रपील की, किंतु उसने कहा कि—"जो साम्राज्यवादी सरकार भारतीय जनता पर प्रभुत्व जमाये बैठी है ग्रौर उस जनता को ग्रपने तथा मानवता के हित में कार्य करने से रोकती है, उसके खिलाफ ग्रात्मबल लगाने से राष्ट्र को रोकना महासमिति ग्रब उचित नहीं समझती । इसलिए यह महासमिति भारत के स्वतंत्र होने के ग्रभिन्न ग्रधिकार को प्रकाश में लाने के लिए गांधीजी के ग्रनिवार्य नेतृत्व में ग्रहिंसात्मक प्रणाली पर जन-संग्राम ग्रारम्भ करने की ग्रनुमति देने का

निश्चय करती है।" इस कार्य के आरम्भ करने का समय गांधीजी के निर्णय पर छोड़ दिया गया था और अन्त में यह भी बताया गया था कि "महासमिति कांग्रेस के लिए शक्ति प्राप्त करना नहीं चाहती। वह शक्ति जब आयगी तब वह भारत की समस्त जनता की शक्ति होगी।"

अपने अंतिम भाषणों में कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा गांधीजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अगला कदम ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि वाइसराय से मिलना और संयुक्त राष्ट्रों के प्रमुख अधिकारियों से एक ऐसे सम्मानपूर्ण समझौते के लिए अपील करना होगा, जिसमें भारत की स्वतंत्रता स्वीकार की गयी होगी और जो आक्रमणकारी धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्रों के प्रयत्न की हित-वृद्धि करेगा।

यह प्रस्ताव अंतिम रूप से ८ अगस्त, १९४२ को काफी रात गये पास हुआ। कुछ ही घंटों बाद, अर्थात् ९ अगस्त को, बड़े तड़के बंबई में और देशभर में बहुत-सी गिरफ्तारियां की गयीं।

: ७ :

स्वतंत्रता-प्राप्ति

आजादी के बाद

हमारी चिर आकांक्षित स्वतंत्रता हमें मिल गयी और कम-से-कम हिंसा के साथ मिल गयी ; किंतु उसके फौरन बाद ही हमें लहू और आंसुओं के पारावार में से होकर गुजरना पड़ा। उस लहू और उन आंसुओं से भी बुरी वह शर्म थी और अपमान था, जिसकी अनुभूति हमें उनके कारण हुई।

सारे प्रकाश बुझते हुए दिखाई दिये ; किंतु एक उज्ज्वल ज्योति तब भी जलती रही और चारों ओर फैले हुए अंधकार में अपना प्रकाश फैलाती रही।

यह इसी दिव्य-प्रकाश का प्रभाव था कि भारत और भारतीय जनता में हमारा विश्वास नष्ट नहीं होने पाया। फिर भी चारों तरफ छाया हुआ अंधकार स्वयं एक संकट था। जब स्वतंत्रता के सूर्य का उदय हो चुका था तो उस अंधकार ने हमें फिर क्यों ग्रसित किया ?

इसलिए यह आवश्यक है कि हम कुछ रुककर इन आधारभूत तत्त्वों पर थोड़ी देर विचार करें, क्योंकि इस समय भारत के भविष्य का निर्माण हो रहा है और यह भविष्य वैसा ही होगा जैसा हमारे लाखा नौजवान स्त्री और पुरुष बनाना चाहते हैं।

युद्ध से शिक्षा

आज हममें संकीर्णता और असहिष्णुता आ गयी है और साथ ही

चेतनता तथा सावधानी का अभाव दिखाई देता है। इन बातों से मुझे भय होता है।

यदि हम भारत के लंबे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि जब कभी हमारे पूर्वजों ने इस संसार की ओर निर्मल और निर्भय दृष्टि से देखा और अपने मस्तिष्क की खिड़कियों को आदान-प्रदान के लिए खुला रखा तभी उन्होंने आश्चर्यजनक उन्नति की। बाद में जब उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया और वे अपने को बाहरी प्रभावों से अलग रखने लगे तो भारत की राजनैतिकऔरसांस्कृतिक अवनति हुई। जिस परम्परा को आज हमने उत्तराधिकार में प्राप्त किया है, वह सचमुच कितनी महान् थी, यद्यपि हमने अक्सर उसका तिरस्कार किया है। बावजूद अपनी विपदाओं और यातनाओं के भारत सदा एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र रहा है और अब भी है। रचनात्मक और निर्माणात्मक क्षेत्रों की उसकी यह महत्ता एशिया के कितने ही भागों में तथा अन्यत्र फैल गयी और सर्वत्र उसकी शानदार विजय हुई। ये विजयें तलवार की नहीं, बल्कि मस्तिष्क और हृदय की थीं जो शांतिदायक और चिरस्मरणीय होती हैं, जबकि तलवार का सहारा लेनेवाले आदमी और उनके काम विस्मृत हो जाते हैं। किंतु यदि उसी महत्ता का उचित और रचनात्मक ढंग से प्रयोग न हो तो वह घुन की तरह भीतर-ही-भीतर देश को खा जाती है और उसे नष्ट तथा पतित कर देती है।

कैसा भारत ?

हम बड़ी जबरदस्त अग्नि-परीक्षाओं में से होकर गुजरे हैं। हम उन्हें पार तो कर गये हैं, किंतु इसके लिए हमने बहुत बड़ी कीमत चुकायी है। इन परीक्षाओं ने हमारे उत्पीड़ित मस्तिष्कों और हमारी पंगु आत्माओं पर जो छाप छोड़ी है वह बहुत समय तक नहीं मिटेगी। ये परीक्षाएँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं। स्वतंत्र और अनुशासनशील व्यक्तियों की तरह हमें इनका मजबूत हृदय और दृढ़ संकल्प के साथ सामना

करना चाहिए और न सत्य मार्ग से विचलित होना चाहिए, न अपने आदर्शों और लक्ष्यों को ही भूलना चाहिए। हमें जख्म भरने का यह कार्य करना है और रचना तथा निर्माण कार्य करना है। भारत की घायल काया और घायल आत्मा पुकार-पुकार कर हमें अपने को इस महान् कार्य में संलग्न कर देने को कह रही है। ईश्वर करे, हम इस कार्य और भारत के योग्य बनें।

: ८ :

चिराग गुल हो गया !

अपनी व्यक्तिगत हैसियत से और भारत सरकार का प्रधान होने के नाते मुझे इस बात पर घोर लज्जा आती है कि हम अपने सबसे बड़े खजाने को बचाने में असफल रहे। निश्चय ही यह हमारी असफलता है, वैसी ही, जैसी पिछले कई महीनों में हमें अनगिनत निर्दोष पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने में मिली है। हो सकता है कि वह भार और वह काम हमारे लिए या किसी भी सरकार के लिए बहुत बड़ा रहा हो, फिर भी यह एक असफलता है और आज यह बात कि जिस महान् व्यक्ति के लिए हमारे हृदय में अगाध प्रेम था और सम्मान था, वह हमारे बीच से इसलिए उठ गया कि हम उसकी पूरी-पूरी रक्षा नहीं कर सके, हम सबके लिए एक लज्जा की बात है। एक भारतीय होने के नाते मैं इस बात से लज्जित हूं कि एक भारतीय ने उनपर अपना हाथ उठाया; एक हिंदू होने के नाते में शर्मिन्दा हूं कि यह काम एक हिंदू ने किया और एक ऐसे व्यक्ति के साथ किया जो आज का सबसे बड़ा भारतीय और सबसे बड़ा हिंदू था।

हम लोगों की प्रशंसा चुने हुए शब्दों में किया करते हैं और महानता को परखने के लिए हमारे पास कोई-न-कोई कसौटी होती है, किंतु न हम गांधीजी की प्रशंसा कर सकते हैं, न उन्हें परख ही सकते हैं, क्योंकि वह उस साधारण मिट्टी के नहीं बने थे, जिसके हम सब बने हैं। वह आये, काफी लंबी आयु तक जीवित रहे और चले गये। उनके

लिए प्रशंसा के शब्दों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उन्हें अपने जीवन में जितनी प्रशंसा मिली उतनी इतिहास के किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन में नहीं मिली होगी और उनकी मृत्यु के बाद के इन दो-तीन दिनों में तो उन्हें सारे संसार ने श्रद्धांजलि अर्पित की है, उसमें हम और क्या जोड़ सकते हैं ? हम उनकी किस तरह प्रशंसा कर सकते हैं ?—हम, जो उनके बच्चे बने रहे हैं, हम जो शायद उनके शरीर से उत्पन्न बच्चों से भी अधिक उनके निकट संपर्क में रहे हैं, क्योंकि हम सभी लोग कम या अधिक मात्रा में उनकी आत्मा के बच्चे हैं, और हम जो उनके अयोग्य बच्चे साबित हुए हैं।

एक गौरव था जो कि अब नहीं रहा और वह सूर्य जो हमारे जीवन को गरमी और रोशनी पहुँचाता था, अस्त हो गया और हम ठंड तथा अन्धकार में काँप रहे हैं। किंतु गांधीजी कभी नहीं चाहते थे कि इतने गौरव को देख चुकने के बाद हम अपने हृदय में ऐसी अनुभूति को स्थान दें। दैवी ज्योतिवाला वह महापुरुष हमें लगातार बदलता रहा और आज हम जैसे हैं उसी के ढाले हुए हैं। उस दैवी ज्योति में से हममें से भी बहुतों ने एक चिनगारी ले ली, जिसने हमारी झुकी हुई पीठ सीधी कर दी और हमें कुछ सीमा तक उनके द्वारा निर्मित मार्ग पर चलने के योग्य बनाया। इसलिए यदि हम उनकी प्रशंसा करते हैं तो हमारी प्रशंसा के शब्द उनके लिए बहुत छोटे मालूम देते हैं और उनकी प्रशंसा करने में कुछ-कुछ अपनी ही प्रशंसा कर बैठते हैं। बड़े-बड़े और प्रसिद्ध लोगों की स्मृति में कांसे या संगमरमर की मूर्तियाँ बनती हैं; किंतु दैवी ज्योतिवाले इस व्यक्ति ने अपने जीवन-काल में ही लाखों और करोड़ों के हृदय में स्थान पा लिया, जिसके फलस्वरूप हम सब भी कुछ-कुछ उसी धातु के बन गये हैं, जिस धातु के वह बने, यद्यपि उनसे बहुत ही कम मात्रा में। उनका विस्तार सारे भारतवर्ष में था—केवल महलों या चुनी हुई जगहों या असेम्बलियों में ही नहीं,

बल्कि नीचों और पीड़ितों की हर झोंपड़ी और कुटिया में। वह लाखों के हृदय में बसते हैं और अनन्त युगों तक बसे रहेंगे।

अतः इस अवसर पर सिर झुकाने के सिवा हम और क्या कर सकते हैं? जिनका हम पूरी तरह से अनुकरण नहीं कर सके, हम उनकी प्रशंसा करने के योग्य नहीं हैं। जबकि वह हमसे अत्यधिक कार्य, श्रम और त्याग करने को कहा करते थे, हमारा उनके लिए कुछ शब्दों भर का प्रयोग करना उनके प्रति अन्याय करना होगा। पिछले तीस साल या उससे कुछ अधिक में उन्होंने भारत को त्याग के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया जिसकी बराबरी आज तक कहीं भी नहीं हो सकी है। इस कार्य में उन्हें सफलता मिली, फिर भी अंत में ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके कारण उन्हें बड़ी तकलीफ हुई, यद्यपि उनके चेहरे पर से मुस्कराहट की एक भी रेखा नहीं मिटने पायी और उन्होंने किसी के प्रति एक भी कठोर शब्द का प्रयोग नहीं किया। फिर भी जिन लोग को उन्होंने सिखाया-पढ़ाया था उनकी ही कमियों के कारण उन्हें कष्ट अवश्य हुआ होगा। उन्हें यह कष्ट इसलिए सहना पड़ा कि जो मार्ग उन्होंने हमें सिखाया था, उससे हम हट गये और अंतमें उनके ही एक बच्चे ने उनका अंत कर दिया—निश्चय ही वह भी उनका उतना ही बच्चा है जितने कि हम।

जिस युग में हम रहते हैं उसका मूल्यांकन इतिहास युगों बाद करेगा। वह इस युग की सफलताओं और असफलताओं का निर्णय करेगा। हम इस युग के इतने निकट हैं कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं, इसको न हम समझ सकते हैं न उसके उचित पारखी ही बन सकते हैं। हम केवल इतना जानते हैं कि एक गौरव था जो अब नहीं रहा, हम केवल इतना जानते हैं कि इस समय अंधकार है—फिर भी अधिक गहरा अंधेरा नहीं, क्योंकि जब कभी हम अपने हृदय में झाँककर देखते हैं तो हमें वह ज्योति दिखाई देती है जो हमने वहाँ जलायी थी।

यदि ये जीवित ज्योतियाँ अक्षुण्ण रहीं तो इस भूमि में कभी अंधकार नहीं होगा और हम गांधीजी के साथ प्रार्थना करते हुए और उनके मार्ग का अनुकरण करते हुए अपने प्रयत्न से इस उनकी भूमि को फिर से आलोकित कर सकेंगे—हम, जो छोटे तो हैं—किंतु जिनमें जलायी हुई ज्योतियाँ आज भी जल रही हैं। अतीत भारत के वह शायद सबसे बड़े प्रतीक थे। मैं तो यह कहना चाहता हूं कि वह भावी भारत के भी सबसे बड़े प्रतीक थे। आज हम उसी अतीत और भविष्य के बीच वर्तमान के संकट-जनक युग में खड़े-खड़े सभी तरह के संकटों का सामना कर रहे हैं। इनमें सबसे बड़ा संकट विश्वास का अभाव, निराशा की भावना और हृदय तथा आत्मा का वह पतन है जो हममें उस समय उत्पन्न होता है जब हम आदर्शों को ठुकराये जाते देखते हैं, जब हम उन बड़ी-बड़ी बातों को, जिनकी हम चर्चा किया करते थे, शून्य शब्दों का रूप लेते देखते हैं और जब हम जीवन को एक दूसरा मार्ग ग्रहण करते पाते हैं। फिर भी मैं विश्वास करता हूं कि यह समय शीघ्र ही बीत जायगा।

प्रभु का यह प्यारा जितना महान् अपने जीवन में था उससे महत्तर उनकी मृत्यु थी और मुझे इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं कि जिस महान् हित की वह अपने जीवन में सेवा करता आया था, उसकी उसने मृत्यु से भी सेवा की है। आज हम उस महापुरुष के लिए शोक मनाते हैं; हम उसके लिए सदा शोक मनायेंगे, क्योंकि हम मनुष्य हैं और अपने सम्माननीय गुरु को नहीं भूल सकते, किंतु हम जानते हैं कि वह यह नहीं चाहते थे कि हम उनके लिए शोक मनायें। अपने निकट-से-निकट और प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति के भी इस संसार से चले जाने पर उन्होंने आँखों से आँसू नहीं बहाये। उनके सामने बस एक दृढ़ संकल्प था—काम करते रहना और जिस हित को उन्होंने चुना था उसकी सेवा में संलग्न रहना। इसलिए यदि हम केवल शोक मनायेंगे तो वह हमसे खुश नहीं होंगे। उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने का यह एक बहुत ही

घटिया तरीका है। उसका एकमात्र तरीका यह है कि हम अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा की घोषणा करें, नये सिरे से संकल्प लें, इसी तरह से व्यवहार करते रहें और जिस महान् कार्य को उन्होंने अपने कंधों पर लिया था और जिसे उन्होंने बड़ी मात्रा में पूरा कर लिया था उनकी सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दें। हमें काम करना है, हमें मेहनत करनी है, हमें त्याग करना है, और कम-से-कम कुछ सीमा तक अपने को उनके योग्य अनुयायी सिद्ध करना है।...

वह चले गये हैं और आज सारे भारत में ऐसा लग रहा है जैसे हम अकेले और अनाथ रह गये हैं। यह भावना हम सबमें है और मैं कह नहीं सकता कि हम उससे कब मुक्त हो पायेंगे। इसके अलावा हम परमात्मा के कृतज्ञ भी हैं कि इस महान् व्यक्ति के संपर्क में रहने का सौभाग्य वर्तमान पीढ़ी के हम लोगों को ही मिला है। आगे के युगों में —हो सकता है कि सदियों और हजारों वर्ष के बाद—लोग इस पीढ़ी की बातें सोचा करेंगे कि जब प्रभु का यह प्यारा पृथ्वी पर अवतरित हुआ था। वे हमारी भी याद किया करेंगे—हम जो छोटे होते हुए भी उनके मार्ग का अनुसगन कर सके और जिस पवित्र भूमि पर उनके पग पड़े उसपर शायद हम भी चलें। हमें उनके योग्य होना चाहिए, सदा उनके योग्य रहना चाहिए।

: ६ :

मूल्यांकन

मैंने पहले-पहल बापू को जब देखा था, तब से एक जमाना बीत गया। मुड़कर देखता हूँ तो यादों के बादल उमड़ते हैं। भारत के इतिहास की यह अवधि कितनी विचित्र है ! इस समय के उतार-चढ़ाव और हार-जीत की कहानी पुराने ज़माने की किसी चारण-गाथा या प्रेम-कहानी से कम अद्‌भुत नहीं है। हम इस जमाने से होकर गुजरे थे और भारत के इस बड़े नाटक में छोटे-बड़े अभिनेता थे इसलिए हम लोगों की कुछ-न-कुछ जिन्दगियां उस प्रेम-कहानी के उजाले में जगमगा उठी थीं।

सारी दुनिया में यह जमाना लड़ाइयों और उथल-पुथल और हिलानेवाली घटनाओं से भरा हुआ था। फिर भी हिन्दुस्तान की घटनाएँ इन सब घटनाओं से अलग दिखाई पड़ती हैं क्योंकि इनका स्तर बिलकुल ही दूसरा था। अगर कोई व्यक्ति बापू के बारे में काफी जाने बिना इस जमाने का अध्ययन करे तो उसे ताज्जुब होगा कि भारत में यह सब क्योंकर मुमकिन हुआ। इसका सबब समझाना मुश्किल है, अकल के ठण्ड उजाले के सहारे तो यह देखना-समझना मुश्किल ही है कि किसी एक आदमी ने या किसी एक पूरी कौम ने उस तरह क्यों बरता। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति या राष्ट्र एकाध बार किसी खास तरह की अच्छी धुन में, अक्सर बुरी धुन में, बह जाता है। लेकिन वह आवेश या भावावेश जल्दी ही चुक जाता है और लोग कर्मठता और निठल्लेपन की अपनी रोजमर्रा-जिन्दगी पर वापिस चले जाते हैं।

भारत की इस अवधि के बारे में ताज्जुब की बात सिर्फ यह नहीं है कि तमाम मुल्क ने एक ऊंचाई से काम किया, बल्कि यह भी है कि उस ऊंचाई से काफी लम्बे अरसे तक काम किया। बेशक यह एक मार्के की बात है और यह बात तब तक आसानी से समझी या समझायी नहीं जा सकती जब तक कोई उस हैरत-अंगेज शख्सियत को ठीक से न समझ ले जिसने इस जमाने को ढाला। यह शख्सियत भारत के इतिहास की आधी सदी को एक विराट् छाया-पुरुष की तरह छाकर खड़ी है, और यह छाया-पुरुष शारीरिक नहीं है, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक है।

इतिहास में ऐसे बहुत ही कम लोग हुए हैं जिन्हें अपने जीवन-काल में ऐसी सफलता पाने का सौभाग्य मिला हो। हमारी कमियोंका उन्हें अफ-सोस था और वे इस बात से दुःखी थे कि भारत को वे और ज्यादा ऊपर नहीं उठा सके। यह उदासी और दुःख आसानी से समझ में आता है। फिर भी यह कहने की किसमें हिम्मत है कि उनकी जिन्दगी नाकामयाब हुई? उन्होंने जिस भी चीज को छू दिया उसीको कीमती और काम का बना दिया। उन्होंने जो कुछ किया उसी के नतीजे ठोस निकले, भले ही वे नतीजे उतने जबरदस्त न निकले हों जितना वे सोचते थे। हमेशा ऐसा लगता था कि वे किसी भी बात की कोशिश क्यों न करें, असफल हो ही नहीं सकते। गीता की सीख के मुताबिक वे फल के मोह के बिना निष्काम भावना से मेहनत करते थे, और इसलिए फल स्वयं उनके पास चले आते थे।

बापू की जिन्दगी

उनकी लम्बी जिन्दगी में जो सख्त मेहनत, काम-काज, हलचलों और असाधारण साहस के कामों से भरपूर थी, कहीं कोई बेसुरापन नहीं है। उनकी तमाम हलचलें अपने-अपने स्वरों के ठीक उतार-चढ़ाव के कारण एक सुरीले राग के रूप में ढलती चली गयीं; और अगर उन्होंने एक शब्द भी कहा, अगर एक इशारा भी किया तो उसका इस राग और

ताल के साथ ठीक मेल बैठ गया। उन्होंने जीने की कला जान ली थी। वे अनजाने ही एक सधे हुए कलाकार बन गये थे। उनकी जिन्दगी से यह बात बहुत साफ हो गयी थी कि भलाई और सचाई के साथ रहने-सहने से दूसरी कई चीजों के सिवा जिन्दगी जीने की कला भी सध जाती है।

जैसे-जैसे वे बूढ़े होते गये, वैसे-वैसे उनका शरीर केवल उनकी शक्तिशाली अन्तरात्मा का वाहन बनता चला गया। अक्सर उनकी तरफ देखते हुए या उनकी बात सुनते हुए लोगों को उनके शरीर का ध्यान नहीं रहता था, इसलिए वे जहाँ बैठते थे वह जगह मन्दिर हो जाती थी और वे जहाँ पाँव धरते थे वह जगह दिव्य आलोक से जगमगा उठती थी।

उनकी मृत्यु में भी एक दिव्यता और परिपूर्ण कला थी। किसी भी दृष्टिकोण से देखें, उन्होंने जो जीवन जिया, उसकी सबसे अन्तिम और सबसे महान् घटना की तरह, हर तरह उनके योग्य यह मृत्यु हुई। इसने उनके जीवन की सीख को और भी ऊँचा उठा दिया। जब उनकी देह का अन्त हुआ तब उनकी आत्मा शक्ति से भरपूर थी, निःसन्देह वे जिस हालत में देह त्याग करना पसन्द करते उसी हालत में उनकी मृत्यु हुई, अर्थात् प्रार्थना करते हुए। उन्हें जिस बात की लगन थी— जीवन-भर और खासकर अपनी जिन्दगी के आखिरी दिनों में जिसे उन्होंने एक पल आराम लिये बिना जिसकी साधना की, उस एकता के ध्येय के लिए वे बलिदान हुए। जैसी मौत हर आदमी चाहता है, वैसी मौत उन्हें मिली। उनका शरीर धीरे-धीरे गलकर नहीं गया, कोई लम्बी बीमारी उन्होंने नहीं भोगी, न उम्र के कारण उनका दिमाग कमजोर पड़ा। तब फिर हम उनका शोक क्यों मनायें ? अब उनकी यादें हमें चलायेंगी—उनकी यादें, आखिरी कदम तक जिनके पाँव में चुस्ती थी, जिनकी मुस्कान आसपास मुस्कानों का सिलसिला बांध देती थी और जिनकी आँखें सदा खिलखिलाती रहती थीं। शरीर और मन की कोई भी कमजोरी उनकी याद के साथ नहीं जुड़ती। वे अपनी समूची ताकत और शक्तियों के

साथ जिये और वैसी ही हालत में उनकी मत्यु हुई। उन्होंने हमारे मन पर और हम जिसमें रहते हैं उस युग पर, एक ऐसी छाप छोड़ दी है जो कभी फीकी नहीं पड़ सकती।

बापू का व्यक्तित्व

बापू ने भारत के लिए और संसार के लिए और हमारी कमजोर आत्माओं के लिए अपौरुषेय कार्य किया और इतनी अच्छी तरह किया कि उसे देख-समझकर चकित रह जाना पड़ता है। इस कमजोर शरीर वाले छोटे-से आदमी की आत्मा में लोहे और चट्टानों जैसी मज़बूती पड़ी हुई थी, जो बड़ी-से-बड़ी भौतिक शक्ति के सामने झुकती नहीं थी। यद्यपि उनकी शक्ल अत्यन्त साधारण थी और उनके ज्यादातर-शरीर पर कपड़े नहीं होते थे, वे लंगोटी-सी लगाये रहते थे, फिर भी एक तरह की भव्यता, एक तरह की बादशाही शान उनकी थी, जिसके सबब लोग खुशी-खुशी उनके सामने झुक जाते थे। वे सोच-समझकर और जान-बूझकर शिष्ट और विनम्र रहते थे किन्तु फिर भी वे सत्ता और शक्ति से भरे हुए थे, और कभी-कभी शाहनशाहों की तरह ऐसे हुक्म फरमाते थे जिन्हें बजा लाना हर एक का फ़र्ज हो जाता था। उनकी शान्त, गहरी नजर आदमी को पकड़ लेती थी और चुपचाप उसके मन की थाह लेने के लिए गहराइयों में उतर जाती थी। उनकी साफ और पानी की तरह तरल आवाज, कलकल करती हुई हृदय तक जा पहुँचती थी और आदमी भावना से भरकर उसके इशारे पर चल पड़ता था। सुननेवाले चाहे हज़ार हों चाहे एक, उनकी वाणी का जादू, उसका आकर्षण छा जाता था और हरेक को ऐसा भान होता था कि वे उसी से बात कर रहे हैं। इस तरह के ख्याल का बुद्धि से बहुत थोड़ा सम्बन्ध होता था, वैसे वे पूरी तरह से बुद्धि की अवहेलना नहीं करते थे। किंतु बुद्धि और मन को वे पहली जगह नहीं देते थे, उसका नम्बर दूसरा होता था। जादूगरी का यह चमत्कार बोलने की

कला या मीठे वचनों की मन्त्र-शक्ति से उत्पन्न नहीं होता था। उनकी भाषा हमेशा सरल होती थी और सीधी होती थी। शायद ही कभी किसी फ़ाज़िल शब्द का उपयोग उसमें होता था। यह तो उनकी खालिस ईमानदारी और उनके व्यक्तित्व का असर था जो इस तरह मन को पकड़कर उनकी जबरदस्त ताकतों का एहसास करा देता था। ऐसे असर का एक सबब यह भी था कि उनके बारे में लोगों के मन में ऐसे ख्यालात बन गये थे और उनसे ठीक वातावरण बनने में मदद मिलती थी। यह मुमकिन है कि ऐसे किसी विदेशी पर जो इस परम्परा से अनजान हो और जिसका उस वातावरण के साथ मेल न बैठता हो, यह जादू का-सा असर न पड़े, कम-से-कम काफी हद तक न पड़े। फिर भी गांधीजी के बारे में यह एक बड़े मार्के की बात थी कि वे अपने विरोधियों को आसानी से जीत लेते थे, या कुछ नहीं तो उनके सामने विरोधी अपने हथियार तो डाल ही देता था। वे नम्र थे, किंतु साथ ही हीरे की तरह सख्त और तराशे हुए थे। वे मीठा बोलते थे और हँसमुख थे, किंतु साथ ही अपनी बात के बारे में बहुत दृढ़ और बहुत उत्कट थे। उनकी आँखों में कोमलता और गहराई थी किंतु उनमें से संकल्प और शक्ति की ज्वाला निकलती रहती थी।

उनकी आवाज धीमी और शांत थी, किंतु हजारों के हल्ले में वह अलग से सुनाई पड़ती थी। वह कोमल थी और हल्की थी, किंतु जान पड़ता था जैसे उसकी तह में कहीं लोहा पड़ा है। वह सुजनता और शिष्टता से भरी हुई थी, किंतु फिर भी उसमें एक सख्ती थी और वह भय उत्पन्न करती थी। वे जो शब्द काम में लाते थे वह अर्थ से भरा हुआ होता था और लगता था कि वह भंयकर रूप से तीव्र हैं। उनकी शांत और मित्रतापूर्ण वाणी के पीछे सदा शक्ति और कर्मठता की छाया लरजती रहती थी और किसी गलत बात के सामने न झुकने का निर्णय स्पष्ट दिखाई देता रहता था। अब हम उस आवाज को अच्छी तरह

जानते हैं। किंतु फरवरी और मार्च, १६१६ में हमारे लिए यह आवाज नयी थी। हमारी ठीक समझ में नहीं आता था कि उसका मतलब क्या है, किंतु हम उसे सुनकर भाव से विभोर हो गये थे। वह हमारी अब तक की राजनीति से कुछ बहुत ही अलग बात थी। हमारी अब तक की राजनीति की इतिश्री जोर-जोर से सिर्फ निन्दा करने और हमेशा लम्बे-लम्बे भाषण फटकारने में हो जाती थी। इन बहसों और भाषणों का अंत निरर्थक और बे-असर प्रस्तावों को पास करके होता था जिन्हें स्वयं पास करनेवाले भी कोई महत्त्व नहीं देते थे। किंतु यह नयी राजनीति बातचीत की राजनीति नहीं थी, काम की राजनीति थी।

गांधीजी सिर्फ ब्रिटिश सरकार के लिए ही समस्या और पहेली नहीं थे, बल्कि अपने देशवासियों और घनिष्ठ सहयोगियों के निकट भी समस्या और पहेली थे। भारत की पुराण-कथाओं में ऐसे महान् तपस्वियों की बातें भरी पड़ी हैं जिन्होंने अपने कठिन त्याग और तपस्या के बल पर इतनी शक्ति संचित कर ली थी कि जिससे देवताओं को अपना राज्य जाने का भय उत्पन्न हो गया और उन्हें लगा कि उनकी व्यवस्था को खतरा है। जब कभी मैंने गांधीजी के अक्षय आत्मबल के भण्डार से निकलनेवाली आश्चर्यजनक स्फूर्ति और भीतरी शक्ति को देखा है तब कई बार मेरे मन में इन कथाओं की बात आयी है। इसमें कोई शक नहीं है कि वह दुनिया में चलनेवाला मामूली सिक्का नहीं था। वे किसी अलग और अजीब-ओ-गरीब धातु से ढले हुए थे और अक्सर उनकी आँखों से हमें गैब झाँकता हुआ दिखाई देता था।

गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी थे! ताज्जुब से भर देनेवाला जबरदस्त जादू उनके पास था। एक रहस्य से भरा हुआ असर उनका लोगों पर पड़ता था। उन्होंने जो कुछ लिखा है और कहा है उससे उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा अन्दाज नहीं लगता। इन चीजों से हमें उनका अन्दाज लगता है कि वे उससे बहुत बड़े थे। और भारत के लिए

उन्होंने जो कुछ किया कितना जबरदस्त है उसका फैलाव! उसने इस देश के लोगों में हिम्मत, जवांमरदी, अनुशासन, सहनशीलता, किसी उद्देश्य के लिए हँसते-हँसते मरने की शक्ति और इन सबसे बड़ी बात विनम्रता और आत्माभिमान जैसे गुणों को भर दिया। उन्होंने कहा था कि साहस चरित्र की नींव है, बिना साहस के न सदाचार सम्भव है, न धार्मिकता, न प्रेम। 'जब तक किसी व्यक्ति के मन में भय ट तब तक वह सत्य या प्रेम का अनुसरण नहीं कर सकता।' वे हिंसा से घृणा करते थे किंतु फिर भी उन्होंने हमसे कहा, 'कायरता हिंसा से भी अधिक घिनौनी चीज है।' और 'अनुशासन में इस बात की प्रतिज्ञा और निश्चय है कि हम जो कहते हैं वह करते हैं। आत्मत्याग, अनुशासन और संयम को छोड़कर मुक्ति सम्भव नहीं है। बिना अनुशासन के आत्मत्याग भी सफल नहीं होता।' यदि केवल इन शब्दों पर विचार करें, तो लगेगा कि वे केवल शास्त्र के वचन हैं और शायद घिसे-पिटे भी हैं, किंतु इन शब्दों के पीछे काम की ताकत थी और भारत जानता था कि यह जरा-सा आदमी जो कहता है, वही करता है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि वे भारत के कितने बड़े प्रतिनिधि थे। जान पड़ता है कि वे इस पुराने और दुःखी देश की आत्मा की बात लोगों तक पहुँचाने आये थे। वे करीब-करीब स्वयं भारत ही थे। उनकी जो कमियाँ थीं वे भी भारतीय थीं। उनकी अवज्ञा करना उनकी अवज्ञा करना नहीं था वह एक राष्ट्र का अपमान था, और जो वाइसराय और दूसरे लोग इस तरह की बदतमीजियाँ करते थे वे नहीं जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसलें बो रहे हैं। जब गांधीजी दिसम्बर, १६३१ में गोलमेज परिषद् से लौट रहे थे तब उन्होंने पोप से मिलना चाहा। पोप ने मिलने से इन्कार कर दिया। मुझे याद है कि जब मैंने यह खबर सुनी तो मुझे बहुत ही बुरा लगा। मुझे ऐसा लगा कि यह इन्कार भारत का अपमान है, और इसमें कोई शक नहीं कि वह इन्कार जान

बूझकर किया गया था, भले ही उसमें अपमान करने का खयाल न रहा हो। कैथोलिक चर्च अपने सम्प्रदाय के बाहर किसी को संत या महात्मा नहीं मानता, और कुछ प्रोटेस्टण्ट पादरियों ने चूँकि यह कहा था कि गांधीजी एक बहुत बड़े धार्मिक पुरुष हैं और सच्चे ईसाई हैं, इसलिए रोम को और भी आवश्यक जान पड़ा कि ऐसे 'मिथ्यावाद' का खंडन जरूरी है और वह इस तरह किया जा सकता है।

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते, और जिन्होंने सिर्फ उनके लेख आदि पढ़े हैं, उन्हें लग सकता है कि गांधीजी किसी अत्यन्त पवित्रतावाले, सनातनी, पण्डित-पुरोहित की तरह लटके हुए मुँह के, हँसी का गला घोंटनेवाले व्यक्ति रहे होंगे—गेरुआ कपड़ा पहने हुए, भिक्षाटन करनेवाले किसी वैरागी के समान। गांधीजी के लेख आदि से उनके बारे में गलतफहमी हो सकती है, किंतु वे अपनी रचनाओं से बहुत बड़े थे और यह उचित नहीं है कि कोई उनके वचनों को लेकर उनपर टीका-टिप्पणी करे। जाहिरा उनका खुश्क ढंग नहीं था; बल्कि वे उससे बिलकुल उल्टे थे। उनकी मुस्कान जी खुश करनेवाली थी, उनकी हँसी चारों तरफ हँसी उपजानेवाली थी और वे आनन्द का वातावरण फैलाते हुए चलते थे। कुछ बच्चों-जैसी बात उनमें थी, मिठास से भरी हुई। किसी कमरे में उनके पाँव धरते ही ऐसा लगता था मानों ताजी हवा का झोंका आ गया हो। कमरे का वातावरण उनके प्रवेश करते ही तरल हो उठता था।

आदमी की बनाई हुई चीजों में गांधीजी को कोई बड़ी खूबसूरती या बड़ी कला दिखाई नहीं पड़ती थी, लेकिन प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें मुग्ध कर लेता था। उन्होंने अपने ढंग की एक जीने की कला खोज ली थी, और अपने जीवन को एक संपूर्ण कलाकृति बना लिया था। उनके शरीर की छोटी-से-छोटी हलचल में एक अर्थ, एक खूबी होती थी और उसमें कभी किसी प्रकार की बनावट या कमी

दिखाई नहीं पड़ती थी । उनकी किसी बात में कोई खुरदरापन या नुकीलापन नहीं होता था । जो सर्वसाधारणत: और गंवारूपन बद-किस्मती से हमारे मध्यम वर्ग के लोगों में भरा पड़ा है उसकी कोई हल्की-से-हल्की लकीर भी कभी उनमें दिखाई नहीं दी । वे अपने भीतर शांति पा चुके थे और वही शांति बिखेरते हुए वे दृढ़ता और साहस के साथ जिन्दगी के जलते हुए रास्तों पर बढ़ते चले जाते थे ।

बापू और राष्ट्रीय आन्दोलन

गांधीजी ने हमेशा हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया । किसी तरह का कठमुल्लापन उनका धर्म नहीं था, किंतु वे समूचे जीवन पर निश्चित रूप से एक धार्मिक दृष्टि-कोण चाहते थे और हमारे सारे आंदोलन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और जहाँ तक आम लोगों का सवाल है उसकी शक्ल सुधारवादी हो गयी । मुझे कई बार हमारी राजनीति में हिंदू और इस्लाम दोनों तरह के धार्मिक तत्त्वों को बढ़ते देखकर बड़ी परेशानी होती थी । मुझे यह बात बिलकुल पसंद नहीं थी । आम सभाओं में ये मौलवी और मौलाना और स्वामीजी लोग ऐसी बहुत-सी बातें कहते थे जो मुझे बहुत गलत लगती थीं । इतिहास, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बारे में उनके ख्यालात मुझे बिलकुल ऊटपटाँग लगते थे और हर चीज को एक मजहबी मोड़ देकर साफ सोचना मुश्किल बना दिया जाता था । यहाँ तक कि गांधीजी के कोई-कोई शब्द भी मेरे कानों में खटकते थे। जैसा उनका बार-बार रामराज्य का इस रूप में उल्लेख करना मानों वह कोई स्वर्ण-युग था और फिर से वापिस आयेगा । मगर मैं क्या कर सकता था ? मैं अपने मन को इस तरह समझा लेता कि गांधीजी इन शब्दों का उपयोग इसलिए करते हैं कि जनता उनसे अच्छी तरह परिचित है और अच्छी तरह समझती है । लोगों के मन तक जा पहुँचने की कला उनके पास थी । उनको समझना बहुत मुश्किल था । कई बार तो आज के मामूली

पढ़े-लिखे आदमी को उनकी भाषा एकदम अपरिचित लगती थी। लेकिन हम लोग उन्हें एक बड़े और गैर-मामूली आदमी, और शानदार नेता की तरह जानते और मानते थे ।

हमारे आन्दोलन और सत्याग्रह का वह बाजू, जिसका सम्बन्ध सदाचार और नीति से था, मुझे बहुत पसन्द था । अहिंसा को मैंने निरपेक्ष रूप से स्वीकार नहीं किया था और उसे हमेशा पालते रहने की भी कोई बात मन में नहीं थी; लेकिन मैं रोज-रोज उसकी तरफ खिचता चला गया और इस विचार ने मेरे मन में जड़ पकड़ ली कि भारत के निवासी आज जिस हालत में हैं और उनकी पूर्व-भूमिका और परम्परा जिस तरह की है उसे देखते हुए अहिंसा हमारे लिए बिलकुल सही नीति है । राजनीति का अध्यात्मीकरण--संकीर्ण धार्मिक अर्थ में नहीं--मुझे एक अच्छा खयाल लगा । एक अच्छे उद्देश्य को पूरा करने के तरीके भी अच्छे होने चाहिए । मुझे लगा कि यह सिर्फ एक अच्छा नैतिक सिद्धांत ही नहीं है, यह अच्छी और व्यावहारिक राजनीति भी है। क्योंकि अच्छी बात को हासिल करने के तरीके अगर अच्छे न हों तो वे अपने उद्देश्य को नुकसान पहुँचाकर नयी समस्याएँ और कठिनाइयाँ पैदा कर देते हैं । और उस वक्त किसी भी व्यक्ति और राष्ट्र को ऐसा लगता है कि जैसे उसने अपने-आपको नीचा गिरा दिया, उसे शर्म आती है कि उसने ऐसे तरीके इस्तेमाल किये और नाहक इस्तेमाल किये ।

गांधीजी की धार्मिकता

गांधीजी सचमुच तो एक धार्मिक पुरुष ही थे, बाहर से भीतर तक हिंदू, लेकिन उनके धार्मिक विचार की कल्पना का किसी सम्प्रदाय या रूढ़ि या कर्मकाण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं था । उनका सम्बन्ध तो नैतिक नियम में दृढ़ विश्वास से था जिसे गांधीजी सत्य अथवा प्रेम का नियम कहते थे । उनकी दृष्टि में सत्य और प्रेम एक ही वस्तु थे या एक ही चीज के अलग-अलग पहलू थे, और वे इन शब्दों का एक-दूसरे के अर्थ

में प्रयोग करते थे।

वे हिंदू धर्म के तत्त्व को समझने का दावा करते थे और इसलिए शास्त्र का जो वचन या समाज का जो व्यवहार उनके आदर्शवादी भाष्य के साथ मेल नहीं खाता था, उसे वे क्षेपक या परवर्ती विचार कहकर त्याग देते थे। उन्होंने कहा कि जिन वचनों या आचारों को मैं नैतिक भूमिका नहीं दे पाता या इस आधार पर उन्हें अच्छा सिद्ध नहीं कर सकता, मैं उन्हें कदापि नहीं मान सकता। और इस तरह वे जिसे नैतिक नियम समझते थे, शास्त्र के वचनों को उसकी कसौटी पर कसकर, अपने मन के मुताबिक बदलकर और ढालकर अपने तय किये हुए रास्ते पर जीवन-दर्शन और आचार को उन्नत बनाते हुए बहुत ही आजादी के साथ चलते थे। उनका जीवन-दर्शन गलत था या सही, इसपर लोग बहस कर सकते हैं लेकिन उनका जोर था कि हर चीज इसी कसौटी पर कसकर देखी जाय और खासकर अपना जीवन। राजनीति और जिन्दगी के दूसरे पहलुओं में औसत आदमी के लिए इसके कारण बड़ी कठिनाइयाँ पैदा हो जाती थीं और इसलिए गलतफहमियाँ भी होती थीं। किंतु गांधीजी ने अपने लिए जो सीधा रास्ता चुन लिया था, बड़ी-से-बड़ी बाधा भी उन्हें उससे तिल-भर इधर-उधर नहीं कर पाती थी। अलबत्ता बदलती हुई परिस्थितियों से वे एक हद तक बराबर समझौता करते थे। जो सुधार या जो उपदेश वे दूसरों को देते थे उसे जैसा-का-तैसा अपने ऊपर लागू करते थे। वे सदा 'स्व' से---अपने से--प्रारम्भ करते थे; उनके वचन और उनके आचार एक-दूसरे के अनुरूप होते थे। और इसलिए चाहे जो होता रहे वे कभी बिखरते नहीं थे और उनके जीवन और कार्यों में सदा एक संगति, एक सम्पूर्णता हुआ करती थी। अपनी इच्छा और अपने आदर्श के अनुसार वे भारत को कैसा रूप देना चाहते थे? 'मैं भारत को ऐसा बनाना चाहता हूँ कि जिसमें दरिद्र से-दरिद्र मनुष्य को लगे कि वह उसी का देश है, इसे बनाने में उसकी इच्छा को ध्यान में

रखा गया है। मैं ऐसा भारत बनाना चाहता हुँ जिसमें लोगों के ऊँचे और नीचे वर्ग नहीं होंगे, जिसमें सब धर्मों और सम्प्रदायों के लोग पूरी-पूरी सद्भावना और प्रेम से रहेंगे।...मेरे सपने के भारत में छूतछात, नशीली चीजें और शराब वगैरह के लिए कोई जगह नहीं होगी...। स्त्रियों के वही अधिकार होंगे जो पुरुषों के होंगे। ...मैं भारत के ऐसे रूप का सपना देख रहा हूँ।'

उन्हें अपनी हिन्दू परम्पराओं का अभिमान था किंतु उन्होंने हिंदू धर्म को बहुत विशाल बनाने का प्रयत्न किया और सभी धर्मों को सत्य के दायरे में शामिल कर लिया। वे अपनी सांस्कृतिक परम्परा को संकीर्ण बनाने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने लिखा, 'भारतीय संस्कृति न हिंदू संस्कृति है, न इस्लामी संस्कृति है और न कोई तीसरी संस्कृति है। वह सभी संस्कृतियों का समन्वय है।' उन्होंने यह भी कहा, 'मैं चाहता हूँ, मेरे घर में सारे देशों की संस्कृति के झोंकों का अधिक-से-अधिक प्रवाह आता रहे। किंतु मैं यह नहीं चाहता कि उन झोंकों से मेरे पाँव उखड़ जायँ। मैं किसी दूसरे के घर में जबरदस्ती या भीख माँगकर या गुलाम बनकर नहीं रहना चाहता।' आधुनिक विचार के प्रवाहों से प्रभावित होकर उन्होंने अपने मूल आधार को कभी नहीं खिसकने दिया, बल्कि उसे जोर से पकड़कर रखा। इसलिए उन्होंने फिर से देश की सामान्य जनता की आध्यात्मिक एकता को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। पश्चिमी ढंग से प्रभावित, ऊपर के छोटे-से तबके और जनता के बीच की दीवार को तोड़कर, पुरानी जड़ों के जीवित तत्त्वों को खोजकर और उन्हें पनपाकर, जनता को उसकी नींद से जगाकर, झकझोरकर और उसे कर्मठ बनाकर उन्होंने अपने उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न किया।

जनता से एकरूपता

उनके एकाग्र और फिर भी बहुमुखी स्वभाव के जिस तत्त्व के बारे में हमारे मन पर सबसे गहरी छाप पड़ती है, वह है उनकी जनता

के साथ एकरूपता, उनसे आत्मा का सम्वाद और केवल भारत ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के दरिद्र और सर्वहाराओं के प्रति आश्चर्यजनक बन्धुत्व का भाव। इन दबे और दलित लोगों को ऊपर उठाने का जोश उनमें इतना प्रबल था कि सारी चीजें, यहाँ तक कि धर्म भी, उनके सामने दूसरे नम्बर पर आती थीं। 'जिस राष्ट्र को पेट-भर भोजन नहीं मिलता उसका न कोई धर्म हो सकता है, न कला, न सामाजिक संगठन।' 'हजारों, लाखों भूख से पीड़ित लोगों के लिए जो भी चीज उपयोगी है मेरे लिए वही चीज सुन्दर है। हम आज लोगों को जीवन की सबसे ज्यादा जरूरी चीजें पहले दें—सौन्दर्य और सजावट तो उनके पीछे-पीछे चली आयेंगी।...मैं ऐसी कला और ऐसा साहित्य चाहता हूं जो जनता की समझ में आये।' यह दीन, दरिद्र और दुःखी जनता सदा उनकी आँखों के सामने बनी रहती थी। जनता मानों केंद्र थी और सारी चीजें उसके आस-पास घूमती थीं। 'लाखों के लिए यह एक शाश्वत जागरण है, शाश्वत समाधि है।' जैसा कि उन्होंने कहा उनकी महत्त्वाकांक्षा, 'हर आँख का हर आँसू पोंछने' की थी।

जो व्यक्ति आश्चर्यजनक रूप से प्राणवान था, जिसमें आत्मविश्वास और किसी एक प्रकार की अद्भुत शक्ति भरी पड़ी थी, जो व्यक्ति-व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता का हामी था और फिर भी जो इन सारी बातों को दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्ति की दृष्टि से सोचकर नापता था, यदि भारत की जनता उसपर मुग्ध थी और यदि वह उसको किसी चुम्बक की तरह अपनी तरफ खींचता था तो इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं है। उनके लेखे वह भूतकाल और भविष्यत् को जोड़नेवाली कड़ी के समान था जिसके कारण धुंधला और उदास वर्तमान, पावन और आशा से भरे भविष्य तक पहुँचने का सोपान जान पड़ता था। और केवल जनता ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् और दूसरे लोग भी इसी तरह सोचते थे भले ही उनकी बुद्धि कभी-कभी चकरा जाती थी, वे

परेशान होते थे और जिन्दगी-भर की आदतों को बदल डालना उन्हें बहुत कठिन लगता था। इस तरह न केवल उन लोगों में ही उन्होंने एक मनोवैज्ञानिक क्रान्ति ला दी जो उनके अनुयायी थे, बल्कि उन्होंने अपने विरोधियों और उन तटस्थ लोगों के मन में भी एक इनकलाब पैदा कर दिया जो तय नहीं कर पाते थे कि क्या सोचें और क्या करें। साधारणतः प्रतिनिधित्व, बहुमत और गिनती के बल पर जिसे प्रजातन्त्र समझा जाता है, गांधीजी की तद्विषयक कल्पना उससे अलग थी। उनके प्रजातन्त्र का आधार सेवा और त्याग पर था और नैतिक दबाव के उपयोग का उसमें स्थान था। वे अपने को जन्मजात प्रजातन्त्री मानते थे।

किसानों के प्रतिनिधि

विचारों की हद तक कभी-कभी वे बहुत पिछड़े हुए मालूम पड़ते थे। लेकिन काम की हद तक वे इस जमाने के सबसे बड़े क्रांतिकारी थे। वे बहुत ही निराले आदमी थे, और रोजमर्रा के पैमाने से उन्हें नापने की कोशिश करना गलत है। बुद्धि और तर्क के साधारण नियम उनपर लागू करना भी संभव नहीं है। चूँकि वे मूलतः क्रांतिकारी थे और भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता लाने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, इसलिए स्वतन्त्रता के आ जाने तक वे बिना किसी समझौते के उसे लाने में जुटे बिना नहीं रह सकते थे। और मैं मन-ही-मन आशा किया करता था कि ऐसा करते हुए वे जनता की जिस अपार शक्ति से काम लेंगे उसी शक्ति से प्रभावित होकर सामाजिक उद्देश्य की ओर खुद भी एक-एक कदम बढ़ेंगे।

अपने कमरों में बैठकर बहस करते रहनेवाले समाजवादी खास तौर से गांधीजी की सख्त आलोचना करते हैं। गांधीजी को जबरदस्त प्रतिक्रियावादी कहते हुए जो तर्क वे पेश करते हैं सो लगभग अकाट्य होते हैं। लेकिन यह छोटी-सी बात काटे नहीं कटती कि यह प्रतिक्रिया-

वादी भारत को जानता था, भारत को समझता था, भारत के किसानों से लगभग एकरूप था और उसने भारत को जैसा हिलाया था वैसा कभी कोई तथाकथित क्रांतिकारी नहीं हिला सका।

कोई उन्हें प्रतिक्रियावादी कहे, चाहे क्रांतिकारी कहे, इसमें शक नहीं कि उन्होंने देश का चेहरा बदल दिया, उन्होंने एक टूटी हुई हीन जनता को आत्माभिमान दिया और उसका चरित्र बदल दिया, लोगों में चेतना और शक्ति जाग्रत की और भारत के मसले को दुनिया का मसला बना दिया। अहिंसात्मक असहयोग या सिविल ना-फरमानी के उद्देश्य या दार्शनिक पहलू को छोड़ भी दें तो भी यह बिलकुल साफ बात है कि गांधीजी ने इस तरीके के रूप में भारत और संसार को विरोध का एक बिलकुल नया और ताकतवर तरीका दिया; हिंदुस्तान की हालतों में तो वह बहुत ही खास तौर से लागू हुआ।

व्यावहारिक आदर्शवादी

यद्यपि गांधीजी कुछ सिद्धांतों के मामले में चट्टान की तरह अडिग थे लेकिन फिर भी दूसरों की ओर खासकर अधिकतर जनता की ताकत या कमजोरी का विचार करके बदलती हुई परिस्थितियों के मुताबिक दूसरों के साथ समझौता करने की उनमें जबरदस्त सामर्थ्य थी। वे हमेशा इस बात का विचार करते थे कि लोग किस हद तक, जिस सच को उन्होंने देखा समझा, उसे अपनाने के लायक हैं। लेकिन बीच-बीच में वे अपने-आप को, यह सोचकर कि कहीं उन्होंने लोगों के साथ जरूरत से ज्यादा नरमी बरतकर अपने सिद्धान्तों के साथ समझौता तो नहीं कर लिया, हिलाते-डुलाते थे और फिर अपनी मर्यादा को पकड़ लेते थे। जब वे आंदोलन के बीच में होते तब ऐसा लगता था कि वे जनता के मन के साथ एक-स्वर हैं। उस समय वे उसकी शक्ति की सीमाओं को समझते रहते थे और इसलिए अपने को भी उसके मुताबिक बना लिया करते थे। किंतु कभी-कभी विचार-पक्ष प्रबल हो जाता था और तब

ऐसा लगता था कि वे सिद्धांतों के साथ कोई समझौता नहीं किया करते।

राजनैतिक नेतृत्व

कांग्रेस के जरिये गांधीजी ने जो शक्तिशाली आंदोलन चलाये, भारत और भारत की जनता को वे गांधीजी की मुख्य देन हैं। देशव्यापी आंदोलन के द्वारा उन्होंने लाखों लोगों को नये साँचे में ढालने की कोशिश की और बहुत हद तक वे इसमें सफल भी हुए। उन्होंने एक गिरी हुई, डरपोक और लाचार जनता को, जो हर ताकतवर स्वार्थ के द्वारा सतायी गयी थी और कुचली गयी थी और जो किसी भी तरह का प्रतिकार करने के योग्य नहीं बची थी, एक बड़े उद्देश्य के लिए आत्म-त्याग करके संगठित प्रयत्नों के योग्य बनाया और उसे अत्याचार का मुकबिला करना सिखाया तथा उसमें आत्माभिमान और आत्म-निर्भरता की भावना भरी। उन्होंने उसे राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों की ओर जाग्रत कर दिया और हर गाँव तथा बाजार जनता की नयी आशा और आकांक्षाओं पर होनेवाले तर्क-वितर्कों से गूँजने लगा। यह एक आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था। अलबत्ता यह ठीक है कि समय इसके अनुकूल था और देश के बाहर और भीतर की परिस्थितियाँ इस परिवर्तन में सहायक हो रही थीं। लेकिन हर बड़ा नेता परिस्थितियों और हालातों से लाभ उठाता है। गांधीजी बहुत बड़े नेता थे और उन्होंने बहुत से ऐसे बन्धनों को काट दिया जो हमारे मनों पर जड़े हुए थे। हममें से जिन्होंने इस जबरदस्त छुटकारे के आनन्द का अनुभव किया है वे उसे कभी भूल नहीं सकते। भारत की जनता ने मन के उन बन्धनों से छूटकर जो उत्साह पाया वह हमें सदा याद रहेगा। गांधीजी ने भारत में सर्वाधिक महत्त्व का क्रान्तिकारी काम करके दिखाया क्योंकि वे भौतिक परिस्थितियों का अधिक-से-अधिक लाभ लेना और उसे जनता के हृदय तक पहुँचाना जानते थे। तब अधिक प्रगतिशील विचारधारा को माननेवाले समूह

ज्यादातर हवा में भटक रहे थे क्योंकि वे उन परिस्थितियों से समंजस नहीं हो पाते थे और इसलिए लोगों के मनों पर उनका कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ पाता था कि लोग उनके पीछे हो लें।

गांधीजी एक ताकतवर ताजी हवा के बहाव की तरह थे जिसमें हम लोगों की तबीयत सीधे तनकर खड़े होने और गहरी साँस लेने की होती थी, वे एक किरण-समूह की तरह थे जिसने अँधेरे को चीरकर हमारी आँखों पर छायी हुई धुंध को हटा दिया था, वे एक तूफान की तरह थे जिसने बहुत-सी चीजों को और सबसे ज्यादा लोगों के सोचने के ढँग को उलट-पुलट दिया था, वे ऊपर से अवतरित नहीं हुए थे बल्कि ऐसा जान पड़ता था कि भारत की जनता के मन की बात कहते हुए और उसकी भयानक हालत की ओर उसका ध्यान खींचते हुए उन्हीं में से ऊपर उठे हैं। उन्होंने हमसे कहा कि तुम सब, जो किसानों और मजदूरों के ऊपर बैठे हुए उनका शोषण कर रहे हो, उनके कंधे से नीचे उतरो, इस गरीबी और दुःख को पैदा करनेवाली व्यवस्था को खतम करो।

उन्होंने जो कुछ सिखाया उसका सार, जनता का कल्याण ध्यान में रखते हुए निर्भयतापूर्वक सत्य पर दृढ़ रहकर काम में लगे रहना है। हमने अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों में पढ़ा है कि अभय किसी भी राष्ट्र का सर्वोत्तम गुण है और यह अभय केवल शारीरिक साहस नहीं है, बल्कि वह स्थिति है जब मन में भय की एक रेखा भी नहीं होती। हमारे इतिहास के प्रारंभिक समय में ही चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि लोक-नेताओं का कर्तव्य लोगों को निर्भय बनाना है। किंतु ब्रिटिश शासन-काल में लोगों पर दम घोंटनेवाला भय छाया ही रहता था। सेना का भय, पुलिस का भय, खुफिया पुलिस का भय, हाकिमों का भय और इसी तरह अत्याचार का भय, जेलखाना, जमींदार के कारिन्दे, साहूकार बेकारी और भूख—कितने ही भय; और ये सब भय मानों हमारे आंगन में ही खड़े रहते थे। गांधीजी की शांत और निष्कम्प

वाणी इस सर्वव्यापी भय के विरोध में उठकर गूँजी—डरो मत।

इस तरह ऐसा जान पड़ा मानों एकाएक लोगों के सिर से भय का भयानक बोझ उतर गया। जनता एकदम निर्भय हो गयी, ऐसा तो नहीं कह सकते; लेकिन वह इतनी निर्भय जरूर हो गयी कि देखकर आश्चर्य हुआ। भय झूठ का सगा साथी है; इसलिए निर्भयता के बाद जीवन में सत्य आ जाता है। भारतीय जनता जितनी सत्यनिष्ठ थी उससे बहुत अधिक सत्यनिष्ठ नहीं हुई और न रातों-रात उसका मूलभूत स्वभाव बदला, लेकिन झूठ और दबे-छिपे काम करने के अवसर कम हो गये और इसलिए उसमें परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था, लगभग वैसा ही जैसा कोई साइकोएनेलिस्ट या मानस-शास्त्री अपने रोगी के भूतकाल को समझकर उसकी मानसिक ग्रन्थियों का मूल ढूंढ-कर उसके सामने रख दे और इस तरह उसके मन को हल्का बना दे।

जिस प्रकार ऐसा मानसिक रोगी अपने रोग का कारण समझकर यह सोचता है कि अब तक मैंने निरर्थक कष्ट भोगा और वह थोड़ा-बहुत शरमिन्दा भी होता है, उसी प्रकार प्रतिक्रिया के रूप में हमारे मनों में भी शरम पैदा हुई कि हम कितने दिन से अपने को पतित और अपमानित बनानेवाली दासता स्वीकार किये हुए हैं, और उसके साथ-ही-साथ मन में यह इच्छा भी पैदा हो गयी कि नतीजा चाहे जो हो, हम अब इस विदेशी शासन के आगे गरदन नहीं झुकायेंगे। हम पहले जितने सत्यवादी थे शायद इस समय भी उससे बहुत अधिक सत्यवादी नहीं हुए, किंतु हमारे बीच में उस अजेय सत्य के प्रतीक की तरह गांधीजी मौजूद थे। वे हमें बीच में ही असत्य की ओर सावधान करके सत्य-व्यवहार करने पर लाचार कर देते थे।

गांधीजी अजीब-से शांतिवादी थे। उनका शान्तिवाद निष्क्रिय नहीं था। वे स्फूर्ति के भण्डार थे और बहुत सक्रिय थे। वे भाग्य या ऐसी किसी भी चीज के आगे सिर नहीं झुकाते थे जिसे वे बुरा मानते हों।

ऐसा कहा जाता है और मुझे लगता है, कि यह सच भी है, कि भारतीय मन स्वभाव से शान्तिप्रिय है। शायद पुरानी कौमें जिन्दगी के प्रति ऐसा रुख विकसित कर लेती हैं। दर्शन की दीर्घ परम्परा भी जातियों को शान्तिप्रिय बना देती है। गांधीजी हर तरह से भारत की सन्तान थे, फिर भी वे शान्तिप्रियता और संघर्षशीलता के अनोखे समन्वय थे। उनमें शक्ति, हलचल और कर्मठता अत्यन्त ही असाधारण मात्रा में थी। वे न केवल अपने को परिचालित करते थे बल्कि दूसरों को भी अपने साथ हाँकते हुए ले जाते थे। मैं किसी दूसरे ऐसे आदमी को नहीं जानता जिसने निष्क्रियता के विरुद्ध ऐसी लड़ाई की हो और भारतीय जनता को उसमें से इतना अधिक बाहर खींचा हो।

उन्होंने हम लोगों को गाँवों में भेज दिया और कर्मठता का नया संदेश देनेवाले अनगिनत संदेशवाहकों की हलचल से देहातों का वातावरण गूंज उठा। किसान जैसे नींद से जागा हो, वह अपने छोटे-छोटे दायरों में से निकलने की कोशिश करने लगा। हम लोगों पर जो असर हुआ वह इससे अलग था लेकिन था उतना ही गहरा क्योंकि हमने भी जैसे गाँव के रहनेवालों को उनकी कच्ची झोंपड़ी में पहली बार आत्मीयता के साथ रहते हुए देखा, और भूख की उसके साथ-साथ चलनेवाली छाया को भी जैसे हमने पहली बार समझा। किताबों और विद्वत्तापूर्ण चर्चाओं से भारतीय अर्थशास्त्र का जैसा ज्ञान हमें नहीं हो पाया था वैसा गाँवों में आने-जाने से हुआ। हम उनके प्रति जिस आत्मीय भावना को महसूस कर चुके थे उसपर जैसे और जोर पड़ा और वह पक्की हो गयी। अब हमारे लिए अपनी पुरानी जिन्दगी और रहन-सहन पर वापस जाना गैरमुमकिन हो गया और गाँवों के उस अनुभव के बाद आगे-पीछे राय बदलने पर भी आराम के साथ दिन गुजारना सम्भव नहीं रहा।

फिर स्वतन्त्रता आयी। वह स्वतन्त्रता, जिसके लिए हम एक

जमाने से लड़ रहे थे, लगभग बिना किसी खूनखराबी के हमें मिली। किंतु आजादी के मिलते ही हमारे देश पर अंधेरे बादल छा गये। जनता पागल हो गयी और हमारे मनों को घृणा और भय ने मूढ़ बना दिया। सभ्यता के सारे बन्धन टूट गये। एक के बाद एक भयानक घटनाओं का ताँता लग गया और मनुष्यों की पशुवत् असभ्यता ने मनों को सूना कर दिया। लगा कि कहीं एक भी किरन बाकी नहीं है, किंतु चारों तरफ घिरे हुए इस अंधेरे में एक शुभ्र निष्कम्प शिखा भी थी जो जलती रही और प्रकाश देती रही। उस पवित्र ज्योति को देखकर हम लोगों ने शक्ति और आशा को अपने भीतर लौटते हुए देखा और हमें लगा कि हमारी जनता कुछ देर के लिए चाहे जिस सर्वनाश की भावना में डूब जाय, किंतु भारत की आत्मा अडिग रहकर प्रबल भाव से क्षणिक तुच्छता को अपसारित करते हुए, उपस्थित तूफ़ान को चीरते हुए ऊपर-ही-ऊपर उठती हुई चली जा रही है। उन महीनों में गांधीजी का हमारे बीच रहना क्या मतलब रखता था, इसे आप लोगों में से कितने लोगों ने सोचा है? आधी शताब्दी से भी ज्यादा समय तक भारत की सेवा और स्वतंत्रता की दिशा में किये गये उनके महान् कामों को हम सब लोग जानते हैं। किंतु उन महीनों में जब हमारी दुनिया ही पिघलकर बही जा रही थी, वे कर्तव्य की चट्टान और सत्य के प्रकाश-स्तम्भ की तरह अडिग बने रहे। उनकी अविचलित धीमी आवाज भीड़ के शोर से ऊपर उठकर सद्-प्रयत्नों का रास्ता सूचित करती रही। भला इस सेवा से बड़ी और कौन-सी सेवा हो सकती थी!

पचास वर्ष से भी अधिक समय तक गांधीजी हिमालय से पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत तक और ब्रह्मपुत्र से सुदूर दक्षिण में कन्याकुमारी तक हमारे विशाल देश में घूमते रहे। उन्होंने इस देश का हर हिस्सा और कोना छान डाला—किसी यात्रा के आनन्द के लिए नहीं बल्कि भारत के लोगों को समझने और उनकी सेवा करने के लिए। शायद तवारीख

में कोई दूसरा भारतीय ऐसा नहीं मिलता जिसने भारत में इतना अधिक भ्रमण किया हो और देश की जनता को इतना अधिक समझा हो या उनकी ऐसी सेवा की हो।

जिंदगी-भर उनके सामने गरीब, दुःखी और दलित भारत की तस्वीर रही। उन्हें ऊपर उठाना और आजाद करना उनके जीवन का ध्येय था। उन्होंने उनकी रहन-सहन और पोशाक इसलिए धारण कर ली कि पूरे देश में इनके कारण कोई व्यक्ति अपने को दीन और हीन न समझे। लोगों के मनों का खुलना उनके लेखे सबसे बड़ी चीज थी।

गांधीजी का स्मारक

लोग कहते हैं कि गांधीजी का स्मारक संगमरमर या काँसे की मूर्ति या स्तम्भों के रूप में बनाया जाना चाहिए। यह तो उनके सन्देश का विरोध करना है, उनकी दिल्लगी उड़ाना है। जो उन्हें पसन्द आये ऐसा कौनसा सम्मान हम उन्हें दे सकते हैं? उन्होंने हमें जीने का रास्ता और मरने का तरीका बताया। और अगर हम उनके दिये हुए सबक को नहीं सीखे, तो यही अच्छा होगा कि हम उनका कोई स्मारक न बनायें क्योंकि जीवन और मौत की घड़ियों में अपना कर्तव्य करने और श्रद्धा के साथ उनके बताये हुए रास्ते पर चलने के सिवा उनका दूसरा उचित स्मारक नहीं हो सकता।



'मंडल' का

इतिहास एवं राजनीति-साहित्य

विश्व-इतिहास की झलक (सम्पूर्ण)
स्वतंत्र भारत की झलक : राजेन्द्रबाबू के पत्रों में
हिन्दुस्तान की कहानी (संपूर्ण)
इतिहास के महापुरुष
कुछ पुरानी चिट्ठियां
राजनीति से दूर
रचनात्मक राजनीति
अठारहसौ सत्तावन
हमारी मांग
स्वर. । में अछूत कोई नहीं
खा . पहनो
लड़खड़ाती दुनिया
आधुनिक भारत
चीन का विश्वासघात
हमारे जमाने की गुलामी
पन्द्रह अगस्त के बाद

